प्राणि जगत

भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण

प्राणि-जगत

अंक—1

1980

निदेशक

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता

द्वारा संपादित तथा प्रकाशित

© भारत सरकार, 1981

प्रकाशन तिथि :

31 जुलाई 1981

PRANI JAGAT—No. 1 (1980)

Print at :
Print & Block Concern (Printers)
28, B. T. Road,
Calcutta-2
Phone : 52-7247, 52-6022

आमुख

प्राणि-विज्ञान के अध्ययन के विभिन्न आयामों से सामान्य जन को भी प्रशिक्षित कराना है, यह ऐसा तथ्य है जिस पर और अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं। इसी दृष्टि से 'प्राणि जगत' नामक पत्रिका का हिन्दी में अर्ध-तकनीकी लेखों के लिए प्रकाशन आरम्भ हो रहा है। ऐसी आशा है कि इससे प्राणि विज्ञान संबंधी उपलब्धियों का, विशेषत: आर्थिक रूप से महत्वपूर्ण विषयों की जानकारी में, अधिक उन्नति तथा प्रसार होगा। इस अंक के कुछ लेख आर्थिक पहलुओं पर हैं, जैसे मधुमक्खियाँ, टिड्डियाँ और चूहे। कुछ लेख वन्य प्राणियों से भी संबंधित हैं।

आशा है कि यह पत्रिका उपयोगी जानकारी के लेख प्रकाशित करती रहेगी और इस प्रकार जन साधारण में प्राणि विज्ञान की सूचनाऐं देकर सेवा करेगी।

इस अवसर पर मैं डा० पुरुषोत्तम दास गुप्ता तथा डा० राजेन्द्र कुमार वार्ष्णेय को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस पत्रिका के लिए लेखों के संयोजन और संपादन में मुझे सहयोग दिया है।

विनयकृष्ण टीकादार
निदेशक
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग

कलकत्ता
31 जुलाई 1981

प्राणि-जगत

अंक-1 1980

विषय सूची

			पृष्ठ
1.	भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग : एक परिचय		1
2.	फलों को हानि पहुंचानेवाली मक्खियाँ और उनकी रोक थाम	कृष्णकांत तिवारी एवं हरिशंकर शर्मा	13
3.	भारतीय मरूस्थलीय चूहे	विजयचन्द्र अग्रवाल	19
4.	कुरी का खटमल (लेन्टाना बग)	राजेन्द्र कुमार वार्ष्णेय	23
5.	मध्य प्रदेश के राष्ट्रीय उद्यान एवं पशु विहार	हरीप्रकाश अग्रवाल एवं दिलीप हर्ष	27
6.	हाथी	सैयद मुहम्मद अली	31
7.	महान प्राचीन शिल्पकार—दीमक	ओम बहादुर छुटानी	39
8.	मानव समाज और पक्षी	जयप्रकाश नारायण शुक्ल	43
9.	सर्पों की दुनियाँ	ध्रुव नारायण तिवारी	47
10.	प्रागैतिहासिक जीव जन्तु और उनका विकास	ज्ञानेन्द्र कुमार श्रीवास्तव	53
11.	टिड्डियाँ और उनकी रोक-थाम	महेन्द्र सिंह शिशौदिया	57
12.	भारतीय मधु उद्योग एवं मधुमक्खियाँ	रघुनाथ तिवारी	63
13.	पश्चिमी हिमालय के व्याध-पतंगों का निरीक्षण	महावीर प्रसाद एवं अरुण कुमार	69
14.	पौधा-सूत्रकृमि और खेती	सतेन्द्र खेरा	83
15.	कीट जगत के हेलीकाप्टर	विश्वम्भर दयाल श्रीवास्तव	95
16.	क्या राजस्थान में कभी समुद्र था ?	पुरुषोतम दास गुप्ता	99

संक्षिप्त रचनाऐं :

(i) व्याध-पतंगे : भक्षक और भक्ष्य राजाराम

(ii) साँप और उसकी केंचुल सुरेश कुमार मिश्रा एवं मानक लाल कोष्टा

प्राणि-जगत 1 1—12 (1980)

भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण : एक परिचय

हमारी दुनिया में अनेक प्रकार के जीव-जन्तु (और वनस्पतियां भी) पाये जाते हैं, जो आकार प्रकार, रूप रंग, संगठन और आदतों में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। ये जीव-जन्तु सभी प्रकार की जलवायु और क्षेत्रों में—ऊंचे पर्वतों, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के हिमाच्छादित क्षेत्रों, निर्जल रेगिस्तानों, समुद्र की अनन्त गहराइयों, नदियों, वनों, संक्षेप में सभी जगह पाये जाते हैं। अब तक लगभग 10 लाख किस्म के जीव-जन्तुओं का पता लग चुका है। अनुमान है कि अभी लगभग इतने ही किस्म के जीव-जन्तु और है। इनमें से अधिकांश (लगभग 70 प्रतिशत) कीड़े–मकोड़े हैं। अनुमान है कि इन जीव-जन्तुओं में से 8 प्रतिशत, अर्थात लगभग 80,000 किस्म के कीड़े-मकोड़े भारत में पाये जाते हैं। इन जीव-जन्तुओं में से कुछ मनुष्य के लिए बड़े उपयोगी होते हैं—इनसे हमें भोजन, शहद, लाख, रेशम आदि मिलता है। कुछ खेती, फसल और बाग बगीचों को गंभीर नुकसान पहुंचाते हैं। कुछ गम्भीर किस्म की बीमारियां जैसे मलेरिया, पीला ज्वर, काला ज्वर, प्लेग, निद्रा रोग, हाथीपाँव, ड्रेकोनटाइटिस आदि इधर उधर ले जाते हैं।

अतः मानव जाति की भलाई के लिये इन जीव-जन्तुओं की सही, वैज्ञानिक और तत्काल पहचान आवश्यक है। यह करने के लिये इन जीव-जन्तुओं के नमूने प्राप्त करना, उनकी रक्षा करना और विशेषज्ञों द्वारा उनकी जांच करना जरूरी है।

भारत में पशुओं का व्यवस्थित अध्ययन लगभग 150 वर्ष पहले शुरू किया गया। भारत सरकार ने इस काम को दृढ़ आधार प्रदान करने और आगे बढ़ाने के लिये 1916 में भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग की स्थापना की।

अब यह संगठन पर्यावरण विभाग के आधीन कार्य करता है। इसका केन्द्रीय कार्यालय कलकत्ता में है और इसके क्षेत्रीय केन्द्र देश के विभिन्न भागों में हैं (देखिये परिशिष्ट 1)। भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग का अध्यक्ष निदेशक होता है। वैज्ञानिक और प्रशासकीय अधिकारियों का एक दल उसकी सहायता करता है (देखिये परिशिष्ट 2)। 31 मार्च 1981 से डा० बी० के० टीकादार निदेशक पद पर कार्य कर रहे हैं।

प्रगति

भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग की जब स्थापना हुई तब उसमें केवल ४ वैज्ञानिक अधिकारी थे। अब यह संगठन प्राणिशास्त्र के अध्ययन का सुव्यवस्थित केन्द्र बन गया है और देश-विदेश में प्राणिशास्त्र में उच्च अध्ययन की सभी संस्थाओं की आवश्यकताएं पूरी करता है। शैक्षणिक दृष्टि से इसे अन्तर विश्वविद्यालय मंडल द्वारा प्राणि-शास्त्र में उच्च अध्ययन के केन्द्र के रूप में मान्यता दी गई है।

भारतीय-प्राणि-सर्वेक्ष विभाग ने एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (1814-1875) और भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता से 100 वर्ष से भी अधिक पुराने प्राणि-शास्त्र सम्बन्धी संग्रह प्राप्त किये हैं।

कार्य

भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग देश के प्राणिशास्त्रीय संग्रह के संरक्षक के रूप में कार्य करता है। यह सरकारी विभागों, अन्य संस्थाओं और निजी व्यक्तियों के लिए प्राणि-विज्ञान के नमूनों का पता लगाता है और देश में वर्गीकृत और भौगौलिक प्राणि-विज्ञान के बारे में सूचनायें प्राप्त करता है। यह देश के विभिन्न भागों में पशुओं का सर्वेक्षण करता है और वर्गीकृत प्राणि-विज्ञान, पशु परिस्थिति विज्ञान, प्राणिभूगोल, पशुओं की जनसंख्या और व्यवहार, और समुद्री जीव-जन्तुओं के बारे में अनुसंधान एवं शोध कार्य करता है। यह संगठन प्राणि-शास्त्र पर पत्रिकाएं, निबंध और पुस्तकें प्रकाशित करता है और जीव-जन्तुओं के बारे में सलाह देता है। इस संगठन के निदेशक भारत सरकार के प्राणि-विज्ञान सलाहकार के रूप में काम करते हैं।

गतिविधियां

राष्ट्रीय प्राणि-विज्ञान संग्रह

देश के राष्ट्रीय प्राणि-विज्ञान संग्रह में, जिसे 'भारत का मानक प्राणि विज्ञान संग्रह' भी कहा जाता है, 80,000 से अधिक नमूने हैं जिनकी पूरी तरह से पहचान हो चुकी है। इसमें विभिन्न वर्गों की किस्म के एक कोशीय सूक्ष्म जीवों और कीड़ों से लेकर हाथी तथा ह्वेल मछलियां शामिल हैं। इस संकलन के प्रमुख वर्ग इस प्रकार हैं एक कोशीय सूक्ष्म जीव, पोरीफेरा (स्पंज), सीलन्टेरेटा प्राणी (प्रवाल, मूंगा, कोरल), परजीवी कीड़े अथवा कृमि या चुन्ना (चपटा कृमि, फीताकृमि, गोलकृमि), एनिलिडा (केंचुआ, जोंक आदि), मोलस्का (घोंघा, शम्बुक, शुक्ति, कौड़ी आदि), क्रस्टेशिया (केकड़ा, झींगा आदि), अष्टपाद (मकड़ी, बिच्छू आदि), कीड़े-मकोड़े (तितली, पतंगा, गुबरैला, मक्खी आदि), एकाईनोडर्म्स (तारा मछली, समुद्री साही, समुद्री कर्करी आदि), मछलियां, उभयचर (मेढक, भेक, आदि), सरीसृप वर्ग (सांप, छिपकली, कछुआ, आदि), पक्षी और स्तनपायी। इन नमूनों का अभिनिर्धारण (पहचान) विशेशज्ञों द्वारा किया गया है और इसमें लगभग 16,700 'आदर्श नमूने' (टाइप स्पेशीमैन) हैं। ये

तुलना के लिये 'मानकों' का काम करते हैं। इनके रख रखाव की ओर लगातार ध्यान देना पड़ता है और इनकी संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है।

क्षेत्रीय सर्वेक्षण

1916 में अपनी स्थापना से अब तक भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग ने देश के विभिन्न भागों (इनमें वे क्षेत्र भी शामिल हैं जो अब पाकिस्तान और बंगला देश कहलाते हैं), सिक्किम, भूटान, नेपाल और बर्मा में जीव–जन्तुओं के लगभग 1000 से अधिक सर्वेक्षण किये हैं। इन सर्वेक्षणों के परिणाम विभागीय तथा अन्य प्रकाशनों में प्रकाशित किये जा चुके हैं।

देश के विभिन्न भागों में विभाग के 12 क्षेत्रीय केन्द्र स्थापित किये गये हैं। ये केन्द्र विस्तृत क्षेत्रीय सर्वेक्षण करने के अलावा वर्ष भर जीव-जन्तुओं के अवलोकन और संग्रह का काम करते हैं। ये केन्द्र स्थानीय जीव-जन्तुओं के क्षेत्रीय परिस्थिति विज्ञान का अध्ययन करने के अतिरिक्त वैज्ञानिक और शैक्षणिक प्रयोग के लिये क्षेत्रीय जीव-जन्तुओं के संग्रहालयों को भी विकसित करते हैं।

अनुसंधान

विभाग के विशेषज्ञों के महत्वपूर्ण अनुसंधानों के परिणाम विभागीय पत्रिकाओं और अन्य वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित किये जाते हैं। अब तक लगभग 2500 अनुसंधान सम्बन्धी लेख और निबंध प्रकाशित किये जा चुके हैं। विभिन्न वर्गों के जानवरों की हजारों जातियों और वंश का पता लगाया गया है और उनका वर्णन किया गया है। इनमें एककोशीय सूक्ष्म जीवों से लेकर बड़े पक्षी और स्तनपायी जीव शामिल हैं। सरकार के विभिन्न विभागों और अन्य संगठनों के अनुरोध पर चिकित्सा, पशु विज्ञान, कृषि और समवर्गी समस्याओं (जैसे कि जल दूषण) के बारे में अनुसंधान किया गया है।

अभिनिर्धारण और सलाह सेवा

सरकारी विभागों, विश्वविद्यालयों, व्यापार, उद्योग और निजी व्यक्तियों के लिये जानवरों का अभिनिर्धारण (पहचान करना) किया जाता है और उन्हें प्राणि विज्ञान सम्बन्धी मामलों पर मुक्त रूप से सलाह दी जाती है।

प्रशिक्षण

स्नातकोत्तर कक्षाओं के छात्रों को विभिन्न विशेषज्ञों के द्वारा वर्गीकृत प्राणि–विज्ञान में अनुसंधान की सुविधाएं दी जाती हैं। इसके लिये अनुसंधान छात्रवृत्तियाँ और शिक्षावृत्तियाँ भी दी जाती हैं। अन्तर विश्वविद्यालय मण्डल ने भारतीय प्राणि–सर्वेक्षण विभाग को उच्च अध्ययन के केन्द्र के रूप में मान्यता दी है जहां से एम०एस०सी० और पी०एच०डी० की उपाधियां प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग में चर्म–संस्कार (टैक्सीडर्मी) का छह महीने का एक संक्षिप्त कार्यक्रम भी है। सफल प्रशिक्षणार्थियों को प्रमाणपत्र दिये जाते हैं।

इस विभाग की ओर से जनता के लिये कलकत्ता स्थित भारतीय संग्रहालय में 5 सार्वजनिक प्राणि-विज्ञान वीथिकाऐं (गैलरी) चलाई जा रही हैं। इनमें निम्नलिखित विभाग हैं :

(1) मछलियाँ और सरीसृप, (2) पक्षी, (3) छोटे स्तनपायी, (4) बड़े स्तनपायी तथा (5) कीड़े-मकोड़े।

अकशेरूकी (इनवर्टीब्रेट) के लिये एक और वीथिका फिर से खोलने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

कलकत्ता और समीप की शिक्षण संस्थाओं को सभी किस्म के जानवरों के छोटे-छोटे संग्रह अध्ययन के हेतु उधार दिये जाते हैं।

पुस्तकालय

विभाग के पुस्तकालय में विभिन्न भाषाओं में प्राणि–विज्ञान की 48,000 पुस्तकें और पत्र पत्रिकाएं हैं। पुस्तकालय में प्राणि-विज्ञान की 800 पत्र पत्रिकाएं नियमित रूप से आती हैं। यद्यपि यह पुस्तकालय मुख्य रूप से विभाग के लिये ही है, देश में अनुसंधान कार्य में लगे विद्वानों को सीमित संख्या में पुस्तकें और पत्र पत्रिकाएं उधार दी जाती हैं।

प्रकाशन

भारतीय प्राणि-विज्ञान सर्वेक्षण विभाग की ओर से भारतीय जीव-जन्तुओं पर पत्र पत्रिकाएं नियमित रूप से प्रकाशित की जाती हैं। इसके अलावा भारतीय जीव-जन्तुओं पर पुस्तकें ओर संदर्भ सूची भी प्रकाशित की जाती हैं (देखिये परिशिष्ट 3)।

पंच वर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत प्रगति

तीसरी और चौथी पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत वर्तमान वैज्ञानिक और तकनीकी विभागों का पुनर्गठन किया गया है और उन्हें पुनः युक्तियुक्त आधार प्रदान किया गया है। निम्नलिखित नये डिवीजनों की स्थापना की गई है : हर्पेटोलाजी डिवीजन, समुद्री जीव विज्ञान डिवीजन, क्षेत्रीय सर्वेक्षण डिवीजन, परिस्थिति विज्ञान और वन्य प्राणी डिवीजन, जीवाश्म प्राणि-विज्ञान डिवीजन, अभिनिर्धारण और सलाह सेवा डिवीजन, प्रकाशन डिवीजन, सूचना और प्रलेख पोषण डिवीजन, संग्रहालय और चर्मशोधन डिवीजन आदि। इसके अलावा नीचे लिखे अनुभाग भी खोले गये हैं : लेपिडोप्टेरा, डिप्टेरा, कोलिओप्टेरा, हेमिप्टेरा, हाइमेनोप्टेरा, आर्थ्राप्टेरा, विविध कीड़े मकोड़ों का वर्ग, केन्द्रीय कीट विज्ञान प्रयोगशाला, एकारोलोजी, कशेरुकी जीवाश्म प्राणि विज्ञान, भूमि प्राणि विज्ञान, पशु व्यवहार आदि। भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग में अब 17 डिवीजन और लगभग 40 वैज्ञानिक और तकनीकी अनुभाग हैं।

परिशिष्ट-1

भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग के कार्यालयों के स्थान और पते

मुख्यालय

तार का पता : "जूलोजी" कलकत्ता

1. निदेशक कार्यालय :
   पता : जवाकुसुम हाउस,
   34, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता-12
   टेलीफोन : 27-0202 (पांच लाइनें)
   निदेशक : 26-9248
   प्रशासनिक अधिकारी : 26-0933
   (सभी पत्र व्यवहार ऊपर लिखे पते पर निदेशक से किया जाना चाहिये)
2. भारतीय संग्रहालय बिल्डिंग कार्यालय :
   पता : इण्डियन म्युजियम बिल्डिंग,
   27, जवाहरलाल नेहरू रोड, कलकत्ता-13
   टेलीफोन : 23-1250
   उपनिदेशक : 23-2562
3. फायर-प्रूफ स्प्रिट बिल्डिंग कार्यालय :
   पता : 27, जवाहरलाल नेहरू रोड, कलकत्ता-13
   टेलीफोन : 23-3070, 23-6924 और 23-9513
   उप निदेशक : 23-6351
4. लिण्डसे स्ट्रीट कार्यालय :
   पता : 8, लिण्डसे स्ट्रीट, कलकत्ता-16
   टेलिफोन : 24-6921 (दो लाइनें)
   सह निदेशक : 24-0395
5. शशि भूषण दे स्ट्रीट कार्यालय :
   पता : 34 ए & बी, शशि भूषण दे स्ट्रीट, कलकत्ता-12
   टेलीफोन : 35-7590
6. मदन स्ट्रीट कार्यालय :
   पता : 14, मदन स्ट्रीट, कलकत्ता-72
   टेलिफोन : 23-7081

क्षेत्रीय केन्द्र

1. उत्तरी क्षेत्रीय केन्द्र,
   भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,
   13, सुभाष रोड,

देहरादून (उ० प्र०)।
टेलीफोन : 4939
तार का पता : जूलसर, देहरादून

2. पूर्वी क्षेत्रीय केन्द्र,
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,
फ्रूट गार्डन, रीसा कालोनी,
शिलांग–3 (मेघालय)।
टेलीफोन : 3638
तार का पता : जूलसर, शिलांग

3. पश्चिमी क्षेत्रीय केन्द्र,
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,
1182/2, फर्गूसन कालेज रोड, शिवाजी नगर
पूना–5 (महाराष्ट्र)।
टेलीफोन : 57034
तार का पता : जूलसर, पूना

4. मध्य क्षेत्रीय केन्द्र,
भारतीय प्राणि–सर्वेक्षण विभाग,
1544/ए, नेपियर टाउन,
जबलपुर (म० प्र०)।
टेलीफोन : 23592
तार का पता : प्राणिसर्वेक्षण, जबलपुर

5. मरु भूमि क्षेत्रीय केन्द्र,
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,
"पटौदी हाउस",
थर्ड स्ट्रीट, पाओटा बी० रोड,
जोधपुर (राजस्थान)।
टेलीफोन : 20744
तार का पता : जूलसर, जोधपुर

6. दक्षिणी क्षेत्रीय केन्द्र,
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,
69, सेन्थम हाई रोड,
मद्रास-600 028 (तमिलनाडु)।
टेलीफोन : 75255
तार का पता : जूलसर, मद्रास

7. गंगा मैदान क्षेत्रीय केन्द्र,
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,

128–ए, ब्लाक 'बी', रोड नं० 7,
राजेन्द्र नगर,
पटना 800016 (बिहार)।
टेलीफोन : 50686
तार का पता: प्राणिसर्वेक्षण, पटना

8. उच्च उच्छ्राय क्षेत्रीय प्राणि-शास्त्र केन्द्र
(हाई आल्टीट्यूड जूलोजी फील्ड स्टेशन,)
भारतीय प्राणि–सर्वेक्षण विभाग,
मोहिन्दर भवन,
राजगढ़ रोड, सोलन (हिमाचल प्रदेश)।
टेलीफोन : 413
तार का पता : जूलसर, सोलन

9. समुद्री जीव विज्ञान केन्द्र,
(मेरीन बाइलोजीकल स्टेशन)
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,
12, लीथ केसिल स्ट्रीट, सेन्थम,
मद्रास—600028 (तमिलनाडु)।
टेलीफोन : 77291
तार का पता : मेरीनबायोल, मद्रास

10. अन्डमन निकोबार द्वीप क्षेत्रीय केन्द्र,
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,
देलानीपुर म्यूनिसीपल बिल्डिंग,
पोर्ट ब्लेयर (अन्डमन द्वीप)।
टेलीफोन : 248
तार का पता : जूलसर, पोर्ट ब्लेयर

11. मोठे पानी का जैव स्टेशन
(फ्रेश वाटर बाइलोजीकल क्षेत्रीय केन्द्र),
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,
3-5-907/2, हिमायत नगर,
हैदराबाद-500 029 (आन्ध्र प्रदेश)।
तार का पता : जूलसर, हैदराबाद

12. काकदीप फील्ड स्टेशन,
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,
बी० डी० ओ० रोड—विशालाक्षमी रोड जंक्शन,
काकदीप (जिला 24 परगना) (पश्चिम बंगाल)।

परिशिष्ट-2

भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग का संगठनात्मक स्वरूप

मुख्यालय

प्रशासन :

निदेशक
सह निदेशक
उप निदेशक (ए)
उप निदेशक (बी)
उप निदेशक (सी)
प्रशासनिक अधिकारीगण

वैज्ञानिक तथा तकनीकी डिवीजन और अनुभाग :

डिवीजन 1. **निम्न अकशेरुकी**
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि-वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, प्रोटोजूलोजी अनुभाग
,, ,, सामान्य अकशेरुकी अनुभाग
,, ,, प्लेटीहेल्मिन्थ अनुभाग
,, ,, निमेटीहेल्मिन्थ अनुभाग

डिवीजन 2. **क्रस्टेशिया**
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, क्रस्टेशिया अनुभाग

डिवीजन 3. **मालेकोलोजी**
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी मोलस्का अनुभाग

डिवीजन 4. **कीट विज्ञान (ए)**
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि–वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, कोलिओप्टेरा अनुभाग
,, ,, लेपिडोप्टेरा अनुभाग
,, ,, हाइमेनोप्टेरा अनुभाग
,, ,, आइसोप्टेरा अनुभाग
,, ,, केन्द्रीय कीट विज्ञान प्रयोगशाला

डिवीजन 5. कीट विज्ञान (वी)
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, आर्थ्राप्टेरा अनुभाग
,, ,, विविध कीट क्रम अनुभाग
,, ,, हेमिप्टेरा अनुभाग
,, ,, डिप्टेरा अनुभाग
,, ,, ऐप्टेरीगोटा अनुभाग

डिवीजन 6. एरेकनोलोजी
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, एरेकनीडा अनुभाग
,, ,, एकोरोलोजी अनुभाग

डिवीजन 7. मछलियां
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि-वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, समुद्री मत्स्य अनुभाग
,, ,, मीठे पानी का मत्स्य अनुभाग

डिवीजन 8. सरीसृप-विज्ञान
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि-वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, प्रोटोकार्डेटा और एम्फीबिया अनुभाग
,, ,, रेप्टीलिया अनुभाग

डिवीजन 9. उच्च कशेरुकी
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, पक्षी अनुभाग
,, ,, स्तनपायी और अस्थि–विज्ञान अनुभाग

डिवीजन 10. पुराप्राणि विज्ञान
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि–वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, अकशेरुकी पुराप्राणि-विज्ञान अनुभाग
,, ,, कशेरुकी पुराप्राणि-विज्ञान अनुभाग
,, ,, प्रागैतिहासिक प्राणि विज्ञान अनुभाग

डिवीजन 11 परिस्थिति विज्ञान (इकोलोजी) तथा पशु व्यवहार
सुपरिटेंडिंग प्राणि वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, पशु जनसंख्या अनुभाग
,, ,, पशु व्यवहार अनुभाग
,, ,, भूमि प्राणि-विज्ञान अनुभाग

डिवीजन **12.** वन्य प्राणी संरक्षण
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि–वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, वन्य प्राणी संरक्षण अनुभाग
डिवीजन **13.** प्रकाशन
प्रकाशन नियोजन अधिकारी
कार्यभारी अधिकारी, प्रकाशन अनुभाग
डिवीजन **14.** सूचना और प्रलेख पोषण
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि–वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, प्रलेख-पोषण अनुभाग
डिवीजन **15.** पहचान और परामर्श
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि-वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, पहचान अनुभाग
डिवीजन **16.** क्षेत्र सर्वेक्षण
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि-वैज्ञानिक
डिवीजन **17.** संग्रहालय और चर्मशोधन
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि-वैज्ञानिक
कार्यभारी अधिकारी, चर्मशोधन और संग्रहालय अनुभाग

अन्य

(i) फॉना ऑफ इण्डिया एकक
सुपरिन्टेंडिंग प्राणि वैज्ञानिक
(ii) निदेशकीय प्रयोगशाला
(iii) कीट परिस्थिति विज्ञान अनुभाग
(iv) स्नातकोत्तर प्रशिक्षण अनुभाग
(v) मुख्य प्राणि-विज्ञान संग्रहण अनुभाग
(vi) साइटोटेक्सोनोमी अनुभाग
(vii) फोटोग्राफी एकक
(viii) छाँट (वीडिंग आउट) अनुभाग
(ix) पुस्तकालय

परिशिष्ट-3

भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग के प्रकाशन

(1) **भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग के रिकार्ड्स (रिकार्ड्स ऑफ द जूलोजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया)** जो पहले **भारतीय संग्रहालय के रिकार्ड्स (रिकार्ड्स ऑफ द इन्डियन म्यूजियम)** कहलाते थे। यह एक प्राणि विज्ञान की शोधपत्रिका है। इसे भारतीय संग्रहालय ने 1907 में आरंभ किया था, 1916 से भारतीय प्राणि–सर्वेक्षण विभाग इसे प्रकाशित कर रहा है। भाग 1 (1907) से भाग 60 (1962) तक **भारतीय संग्रहालय के रिकार्ड्स** ; भाग 61 (1963) से **भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग के रिकार्डस** के नाम से प्रकाशित हो रहे हैं।

(2) **भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग के संस्मरण (मेमोआर्स ऑफ द जूलोजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया)** पहले **भारतीय संग्रहालय के संस्मरण (मेमोआर्स ऑफ द इन्डियन म्यूजियम)** कहलाते थे। यह मुख्यतया शोध प्रबन्ध सम्बन्धी संस्मरणों की विज्ञान पत्रिका है। इसे भारतीय संग्रहालय ने 1907 में आरम्भ किया। 1916 से भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग इसे प्रकाशित कर रहा है। भाग 1 (1907) से भाग 14 (1964) तक **भारतीय संग्रहालय के संस्मरण** के नाम से तथा भाग 15 से **भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग के संस्मरण** के नाम से प्रकाशित हो रहा है।

(3) **भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग की वार्षिक रिपोर्ट**—इसे 1917 में आरंभ किया गया। कुछ समय तक इसका प्रकाशन त्रैवार्षिक रहा। अब यह प्रतिवर्ष प्रकाशित की जाती है।

(4) **भारत के जीव-जन्तु (फॉना ऑफ इन्डिया)** –पहले इसका नाम **फॉना ऑफ ब्रिटिश इन्डिया था।** भारतीय जीव-जन्तुओं पर ग्रन्थों को 1898 में आरंभ किया गया। अब तक प्रोटोजुआ, ऐनिलिडा, नेमाटोडा, मोलस्का, कीड़े–मकोड़े, अष्टपाद (मकड़ी), मछली, एम्फीबिया, सरीसृप वर्ग, पक्षी और स्तनपायी जैसे विविध वर्गों पर 84 भाग (इनमें 15 द्वितीय संस्करण भी शामिल हैं) प्रकाशित हो चुके हैं।

(5) **भारतीय प्राणि-विज्ञान की संदर्भ सूची (विब्लियोग्राफी ऑफ इन्डियन जूलौजी)** 1958 से आरंभ। पहले इसे साइक्लोस्टाइल रूप में निकाला जाता था, परन्तु अब इसे प्रकाशित किया जा रहा है।

(6) विविध प्रकाशन :

इनका प्रकाशन समय-समय पर होता रहता है।

(i) आकेजनल पेपर्स :

इस शृङ्खला में किसी एक विषय पर पूरी शोध जानकारी एक साथ दी रहती है। संख्या 1 (1976) में प्रकाशित हुआ था। अब तक कई वर्गों की चैक लिस्ट, कैटलाग तथा पहचान में सहायक पुस्तकों की 14 संख्या प्रकाशित हो चुकी हैं।

(7) भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग के बुलैटिन :
(बुलैटिन आफ द जूलौजिकल सर्वे आफ इण्डिया)

यह एक प्राणि–विज्ञान के शोध प्रबन्धों की पत्रिका है। इसका ग्रंथ 1 (1978) में तीन भागों में प्रकाशित हुआ था।

(8) भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग के टेकनीकल मोनोग्राफ :

इस शृङ्खला में विभिन्न विषयों पर तकनीकी ग्रन्थ (मोनोग्राफ) प्रकाशित होते हैं। अब तक 2 टेकनीकल मोनोग्राफ (1978, 1979) में प्रकाशित हो चुके हैं, तथा कई अन्य प्रेस में हैं।

(9) जूलोजियाना :

यह विभागीय पत्रिका प्राणि विज्ञान सम्बन्धी सरल भाषा के लेखों के लिए प्रकाशित होनी आरम्भ हुई है। पहला भाग 1978 में प्रकाशित हुआ था।

(10) भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण समाचार (जैड० एस० आई० न्यूज) में विभागीय समाचार तथा चित्र रहते हैं। इसे 1978 में आरम्भ किया गया।

ऊपर के सभी प्रकाशन अंग्रेजी में प्रकाशित होते हैं।

(11) प्राणि-जगत :

यह विभागीय पत्रिका हिन्दी भाषा में प्रकाशित हो रही है और इसका पहला अङ्क (1980) आपके हाथों में है।

नोट : भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग के प्रकाशन प्राप्त करने के लिए सभी पत्र–व्यवहार निदेशक के पते पर करें। किन्तु यह बात ध्यान में रखें कि मूल्य का भुगतान डिमाण्ड ड्राफ्ट द्वारा "पे एण्ड एकाउण्ट आफीसर (बी० एस० आई०, जैड० एस० आई, एन० ए०ओ०), डिपार्टमेन्ट आफ साइन्स एन्ड टेकनालाजी, कलकत्ता" के नाम कलकत्ते की किसी बैंक पर करना है। प्रकाशनों का विस्तृत सूची-पत्र निदेशक के कार्यालय से मंगाया जा सकता है (पता पृष्ठ 5 पर)।

—००—

प्राणि-जगत, 1 : 13-17 (1980)

फलों को हानि पहुंचाने वाली मक्खियां और उनकी रोक-थाम

कृष्ण कान्त तिवारी एवं हरिशंकर शर्मा*

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

फलों और सब्जियों का मनुष्य के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। ये मनुष्य का स्वादिष्ट भोजन होने के साथ-साथ ऊर्जा भी प्रदान करते हैं। फलों को हानि पहुंचाने वाली मक्खियां फलों के उत्पादन को तो कम करती हो हैं, साथ ही उनके रूप तथा गुणों को भी नष्ट कर देती हैं। परिणाम स्वरूप फल उद्योग पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। ये मक्खियां फलों के वृक्षों को हो नहीं अपितु संसार के व्यापारिक दृष्टि से उपयोगी अन्य पौधों को भी अत्यन्त हानि पहुँचाती हैं, जिनकी गणना करना कठिन है। ये मक्खियां डिप्टेरा क्रम के टेफ्रीटीडी वंश की सदस्य होती हैं।

ये मक्खियां अपने अण्डे प्रत्यक्ष रूप से जोवित स्वस्थ पौधों के ऊतकों में लम्बे नुकीले अडनिधानांग (ओवीपोजिटर) द्वारा जमा करती हैं। अंडे से लार्वे बनते हैं, जो स्वस्थ फलों, बढ़ते हुए अण्डाशयों, फूलों और कलियों आदि को खाते हैं। ये मक्खियां लार्वा अवस्था में फलों को भयंकर रूप से हानि पहुँचाती हैं। कभी-कभी जड़ों तथा तनों पर इनके द्वारा अस्वाभाविक वृद्धियां हो जाती हैं, जिन्हें पोन (गाल) कहते हैं। लार्वा द्वारा खाये कोष पौधे में गाल बनाकर एक निश्चित स्थान में सीमित रखते हैं। लार्वे से प्यूपा, अधिकतर जमीन में बनते हैं, कभी-कभी पौधों के ऊतकों में भी बन जाते हैं, जो अन्त में वयस्क मक्खियों का रूप धारण कर लेते हैं।

वयस्क मक्खियां छायादार ठंडी जगह पसन्द करती हैं और अधिकतर चौड़ी पत्तियों के नीचे पाई जाती हैं। ये बहुधा वनस्पतियों और फलों आदि पर निर्भर करती हैं। ये मक्खियां पौधों अथवा कापसिड कीड़ों (हेमिप्टेरा) आदि के मीठे स्रावों को खाती हैं।

ये मक्खियां अन्य मक्खियों की अपेक्षा आसानी से पहचानी जा सकती हैं। इनकी पहचान के कुछ मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं :—

1. मक्खियों के शरीर विभिन्न प्रकार के पीले, भूरे अथवा काले चिन्हों द्वारा सुशोभित रहते हैं। पंखों में बहुधा दो प्रकार के चिन्ह पाये जाते हैं :—

(अ) धारीदार—पंख की लम्बाई में तथा उसके आरपार विभिन्न आकार की धारियां (चित्र 1)।

(ब) धब्बेदार—पंख का रंग मुख्यतः भूरा तथा उसपर विभिन्न आकार के सफेद धब्बे (चित्र 2)। कुछ मक्खियों के पंख में तारों जैसी आकृति बनी होती है।

*वर्तमान पता : भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, मध्य क्षेत्रीय केन्द्र, जबलपुर।

2. सब कोस्टा (चित्र 1 स० को०) अपने अन्तिम किनारे पर लगभग 90 डिग्री का कोण बनाते हुए मुड़ती है और पंख के सामने वाले किनारे अर्थात् कोस्टा (चित्र 1 को०) तक पहुँचने के पहले अदृश्य हो जाती है।
3. सब कोस्टा के अन्त में भूरे रंग का चिन्ह होता है जिसे स्टिग्मा (चित्र 1 स०) कहते हैं।
4. नर और मादा मक्खी के उदर क्रमशः पांच और छः खण्डों के बने होते हैं। प्रथम दो खण्ड संयुक्त रहते हैं तथा अन्य खण्डों की अपेक्षा बड़े होते हैं।
5. मादा मक्खी के उदर के अन्त में एक लम्बा, नुकीला, तीन खण्डीय अंडनिधानांग (चित्र 3) होता है, जिसकी सहायता से यह अण्डों को फलों आदि के अन्दर रखती हैं।

रोकथाम :

फलों को हानि पहुँचाने वाली मक्खियों की रोक-थाम अन्य हानिकारक कीटों की अपेक्षा कठिन है क्योंकि इनके लार्वे फलों, सब्जियों एवं कलियों आदि के अन्दर प्रायः गूदेदार भागों में रहते हैं। अतः कीटनाशक औषधियाँ छिड़काव द्वारा या चूर्ण के रूप में वहां तक नहीं पहुँच पातीं। परिणामस्वरूप कीट वैज्ञानिकों के सामने वयस्क मक्खियों को जाल में फंसाने के अतिरिक्त अन्य कोई सुरक्षित उपाय नहीं रह जाता। इनकी रोक-थाम निम्न उपायों द्वारा भी की जाती है :—

1. यांत्रिक विधियां :—

(अ) गिरे हुए फलों को हटाना :—मक्खियों की अतिवृद्धि रोकने के लिए यह आवश्यक है कि अधिक से अधिक लार्वे नष्ट किए जाएं। अतः समस्त दूषित फलों को, जो पृथ्वी पर गिरते हैं, इकट्ठा करके जमीन के अन्दर गहराई में गाड़ देना चाहिए। ध्यान रहे, गड्ढे में फलों के ऊपर मिट्टी लगभग आधा से पौन मीटर हो। मिट्टी को अच्छी तरह दबा देना चाहिए ताकि मक्खियां बाहर न निकल सकें। यदि फलों को न गाड़ा जाय तो मक्खियां गिरे हुए फलों की गन्ध पाकर आकर्षित होंगी और अन्य फलों को दूषित करेंगी।

(ब) अविकसित फलों को मौसम की समाप्ति पर वृक्ष से अलग करना:- कुछ फल पहुँच के बाहर होने के कारण या अन्य परिस्थितियोंवश वृक्षों पर ही छूट जाते हैं। छूटे हुए अविकसित फल सबसे अधिक हानिकारक होते हैं। फलों के मौसम की समाप्ति पर ये फल मक्खियों को अंडे देने के लिये आश्रय प्रदान करते हैं। अतः इन फलों को वृक्ष से अलग कर देना चाहिए।

(स) वयस्क मक्खियों को नष्ट करना :—ठंड के मौसम में, रात्रि में और प्रातः काल, तीव्रता के अनुसार मक्खियां अपनी रक्षा के लिए उपयुक्त स्थानों पर स्वाभाविक रूप से इकठ्ठी हो जाती हैं। ये प्रायः वृक्षों की पत्तियों के बीच इकट्ठी होती हैं। अधिक ठंड पड़ने पर ये मक्खियां उड़ने

में असमर्थ होती हैं और आसानी से हाथ या कीटनाशक औषधियों द्वारा नष्ट की जा सकती हैं।

(द) **थैलियों द्वारा फलों की रक्षा** :—मक्खियों के आक्रमण से फलों की रक्षा कपड़े या कागज की थैलियों के उपयोग द्वारा की जा सकती है। थैलियां प्रायः ढीली होनी चाहिए ताकि अंडनिधानांग फलों तक न पहुँच सकें। यह तरीका खर्चीला है क्योंकि फलों के एक बड़े बगीचे में, प्रत्येक फल को थैली द्वारा ढकना आर्थिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। सम्भवतः यह तरीका एक या दो वृक्ष रखने वाले गृहस्वामियों को लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

2. **कलचर विधि** :—

प्यूपों को नष्ट करना : अधिकतर मक्खियों के प्यूपे ठंड का मौसम जमीन पर व्यतीत करते हैं। अतः इस समय जमीन की ऊपरी सतह को थोड़ा खोद दिया जाए अथवा हल्का हल चला दिया जाय तो अधिकांश प्यूपे जमीन के ऊपर आ जाऐंगे जो परजीवियों, भक्षक कीटों एवं पक्षियों द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं। बहुत से प्यूपे हल की चोट खाकर भी नष्ट हो जाते हैं।

3. **भौतिक विधि** :—

कभी-कभी मक्खियां बगीचे के लगभग सभी फलों पर एक साथ आक्रमण करती हैं। ये फल जब विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों में बेचने के लिए भेजे जाते हैं तो अंडे या तो रास्ते में या बाजार पहुँचकर लार्वे बन जाते हैं। इस अवस्था में विक्रेता को काफी हानि उठानी पड़ती है। अमरीका तथा आस्ट्रेलिया में इस हानि से बचने के लिए कुछ प्रयोग किए गए हैं, जो काफी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। फलों को 100 डिग्री से 112 डिग्री तापक्रम पर भाप से संतृप्त वातावरण में लगभग आध घंटे तक रखा जाता है। इस क्रिया से फल के स्वाद में कोई अन्तर नहीं आता। यह विधि केवल उन फलों के लिये उपयोगी है जिनमें मक्खियों का प्रभाव केवल छिलकों तक सीमित होता है।

4. **रासायनिक विधियां** :—

(i) **कीटाणु नाशक रसायनों का छिड़काव** :—ठंड से अपनी रक्षा के लिए ये जब उपयुक्त स्थान में इकठ्ठी हो जाती हैं अथवा भोजन की खोज में या अंडे देने में सक्रिय रहती हैं, उस समय उपयुक्त कीटनाशक औषधि के छिड़काव द्वारा बहुत संख्या में उनको नष्ट किया जा सकता है। डी०डी०टी०, पेराथिआन, क्लोर्डेन एवं डीजल आयल इमलसन आदि कुछ रासायनिक पदार्थ हैं जो इन मक्खियों के रोक थाम में प्रयोग किए जाते हैं। डीजल आयल इमलसन भारत में एक अच्छा कीटनाशक सिद्ध हुआ है।

(ii) **कीटनाशक औषधि का खाद्य-पदार्थों में मिलाकर छिड़काव** :— यह नियंत्रण के सबसे अधिक प्रभावशाली उपायों में से एक है। अंडे देने के पहले मक्खियों को काफी मात्रा में पानी पीने की आवश्यकता होती

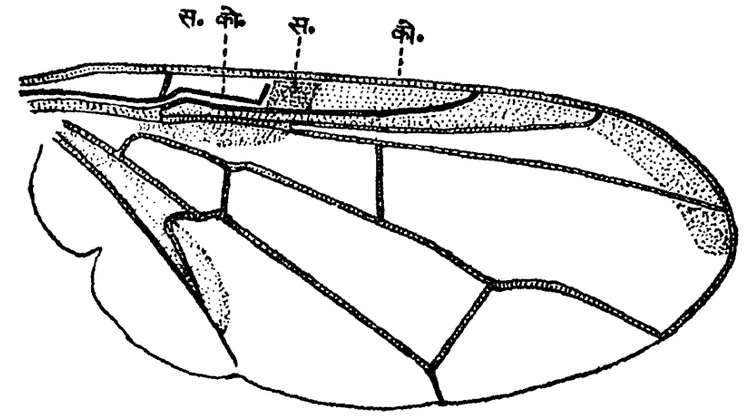

1

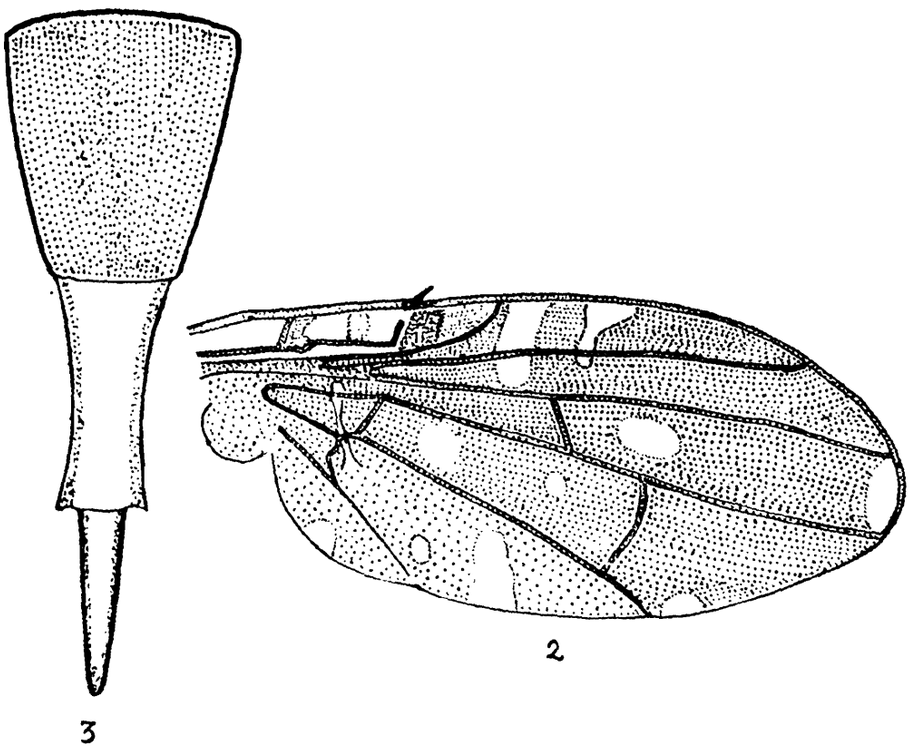

2

3

चित्र 1 —फलों की मक्खी का एक धारीदार पंख

स० — स्टिग्मा

स० को० — सब कोस्टा

को० — कोस्टा

चित्र 2 —फलों की मक्खी का एक धब्बेदार पंख

चित्र 3 —मादा मक्खी का अंड निधानांग (ओवीपोजीटर)

है। परिणामस्वरूप ये किसी भी तरल पदार्थ की ओर आकर्षित होती हैं। उस समय तरल पदार्थ में कीटनाशक औषधि छिड़कने से मक्खियों को नष्ट किया जा सकता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि तरल पदार्थ बूंदों के रूप में पत्तियों पर जमा हो जाए। लेड आरसेनेट, कापर कार्बोनेट, टारटार सोडियम और फ्लुओसिलिकेट आदि कीट-नाशक औषधियां इसमें लाभदायक हैं।

(iii) रासायवर्तना (कीमोट्रापिएज) :—कीड़े कुछ खास प्रकार की गंध पाकर आकर्षित होते हैं। एक रासायनिक पदार्थ, जो एक देश में किसी मक्खी विशेष को आकर्षित करने में उपयोगी सिद्ध हुआ हो, वही रसायन अन्य देशों में भी उसी मक्खी पर वही परिणाम दे, यह आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार रासायनिक पदार्थ यदि कुछ मक्खियों को आकर्षित करते हैं तो अन्य को हटा भी सकते हैं। सिट्रोनेला तेल, तरल अमोनिया, अमोनियम कार्बोनेट, अमोनियम सल्फेट और बेनिला आदि कुछ आकर्षक रसायन हैं। डेढ़ पाव पानी में 10 बूंद रासायनिक पदार्थ मक्खियों को लगभग सात दिनों तक आकर्षित कर सकता है।

5. जैविक विधि :—

फसलों को हानि पहुंचाने वाले कीटों का नियंत्रण परजीवियों और भक्षक प्राणियों द्वारा किया जा सकता है। यह उपाय बहुधा उन्हीं मामलों में उपयुक्त होता है जिसमें हानिकारक कीड़ों की संख्या में वृद्धि प्रायः उनके प्राकृतिक शत्रुओं की अनुपस्थिति से होती है। भारत में फलों को हानि पहुँचाने वाली बहुत सी मक्खियां हायमेनोप्टेरा क्रम के ब्रेकोनिडी और चेलसिडी वंशों की जातियों द्वारा ग्रसित रहती हैं।

6. स्पर्शवर्जन विधि :—

देश के फलोद्योग को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक है कि इनको गम्भीर रूप से हानि पहुँचाने वाले कीड़ों के प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया जाए। अतः उन सभी फलों, सब्जियों और पौधों पर, जो मक्खियों के पोषण के रूप में पाए जाते हैं; प्रतिबंध अधिक होना चाहिए। यही नहीं, पैकिंग के काम में आनेवाली दूषित लकड़ियों पर रोक लगा देनी चाहिए। जिस देश से फल आदि आयात किए जाएं, उस देश के शासकीय कीट-वैज्ञानिकों को इस आशय का एक प्रमाण पत्र देना चाहिए कि "निर्यात् माल मक्खियों के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त है"।

—००—

प्राणि-जगत, 1 : 19—22 (1980)

भारतीय मरुस्थलीय चूहे

विजय चन्द्र अग्रवाल

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

हम लोग चूहों से भलीभांति परिचित हैं। ये स्तनपायी श्रेणी के अन्तर्गत कुतरने वाले जन्तुओं के वर्ग में आते हैं। इस वर्ग में गिलहरी, शाही, आदि अन्य जन्तु भी आते हैं। इन सभी जन्तुओं में आगे के चार दांत लम्बे और रुखानीदार होते हैं जिनसे ये आसानी से कुतर-कुतर कर खाते हैं। हमारे देश में ये चूहे प्रत्येक वर्ष अरबों रुपये की फसल तथा अनाज खा जाते हैं। इसके अतिरिक्त ये घरेलू सामान, कपड़े, कागज, बिजली के तार आदि को कुतर कर नष्ट कर देते हैं। यहां तक कि ये नोटों को भी नहीं छोड़ते। ये बहुत से रोग फैलाने वाले कीटाणुओं को भी वहन करते हैं, जिनमें प्लेग से सभी परिचित हैं। हमारी सरकार प्रति वर्ष इन चूहों की रोक थाम के लिए करोड़ों रुपए व्यय करती है। पूरे स्तनपायी श्रेणी में इनकी संख्या सबसे अधिक है। इसका मुख्य कारण है इनकी अद्भुत प्रजनन शक्ति तथा विभिन्न प्रकार के वातावरण में रहने की क्षमता। इन चूहों में बच्चे वहन करने का समय 18 से लेकर 42 दिनों तक होता है। ये वर्ष में एक से चार बार तक तथा एक बार में 1—18 बच्चे देते हैं। इनके बच्चे 4 से 6 माह के भीतर ही प्रजनन करने योग्य हो जाते हैं। इस प्रकार कुछ वर्षों में एक जोड़ा चूहे की कई हजार सन्तानें हो जाती हैं। दूसरे, ये चूहे प्रत्येक प्रकार के वातावरण में रहते हैं। इनमें 4000 से 5000 मीटर की ऊंचाई से लेकर मरुस्थल की भीषण गर्मी तक में रहने की क्षमता है। ये जिस वातावरण में रहते हैं अपनी जीवनचर्य्या तथा आकार को उसी के अनुरूप परिवर्तित कर लेते हैं, जिससे इन्हें दैनिक कार्यों को करने में कोई कठिनाई नहीं होती और इनकी संख्या तथा विविधता में निरन्तर वृद्धि होती चली जा रही है।

प्रस्तुत लेख में मरुस्थल में रहने वाले चूहों के बारे में प्रकाश डाला गया है। विश्व के विभिन्न मरुस्थलों में चूहों की अनेक किस्में पाई जाती हैं, जिनमें जरविल, जरबोआ तथा कंगारू-चूहा मुख्य हैं। जरविल भारत के थार मरुस्थल के वासी हैं तथा अन्य दोनों चूहे अफ्रीका, मध्य पूर्वी एशियाई देश तथा उत्तरी अमेरिका के। भारत में जरविल की चार प्रजातियां पाई जाती हैं :—

(i) भारतीय एन्टीलोप जरविल (टैटेरा इन्डीका)
(ii) भारतीय मरुस्थलीय जरविल (मेरिओनस हरियानी)
(iii) रोएंदार पैरों वाला जरविल (जरवीलस ग्लेडोवी)
(iv) छोटा जरविल (जरवीलस नेनस)

इनमें भारतीय मरुस्थलीय जरविल को छोड़कर, जो दिन में क्रियाशील रहते हैं, बाकी तीनों प्रजातियाँ रात्रिचर हैं।

यह समझने के पहले कि इन जरविलों ने किस प्रकार अपने आकार को मरुस्थलीय परिस्थितियों के अनुरूप बना लिया है, इनके आकार तथा मरुस्थलीय जलवायु का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

इन चारों प्रजातियों में भारतीय एन्टीलोप जरविल सबसे बड़ा होता है। इसका शरीर 15 से 20 से० मी० लम्बा होता है। भारतीय मरुस्थलीय जरविल उससे छोटा (12—14 से० मी० तक) तथा रोएंदार पैरों वाला जरविल सबसे छोटा होता है (5—9 से०मी०)। इनके पूंछ के सिरे पर काले बालों का गुच्छा होता है। आंखें बड़ी होती हैं और कान की हड्डी फूली हुई होती है। पैर अन्य चूहों की तुलना में लम्बे तथा उसके नाखून लम्बे-मुड़े हुए होते हैं। रोएंदार पैरों वाले जरविल तथा छोटे जरविल की पूंछ शरीर से लगभग डेढ़ गुना लम्बी और पैर एक-तिहाई लम्बा होता है। जैसा नाम से ही विदित है रोएंदार पैरों वाले जरविल के पैर के तलवे में रोएं होते हैं। इनके शरीर का रंग लालीयुक्त भूरा से लेकर रेतीलाभूरा तक होता है।

मरुस्थल में पेड़-पौधों की कमी और खुली जगह की बहुतायत होती है जिससे वहां रहने वाले जानवरों को खाने की खोज में दूर-दूर तक भटकना पड़ता है। खुली जगह में छिपने के स्थान कम और शत्रुओं का भय अधिक रहता है। इसके अतिरिक्त वहां जल तथा आर्द्रता की कमी और प्रचन्ड वायु होती है तथा तापमान में अत्यधिक परिवर्तन होता रहता है। दिन में भीषण गर्मी तथा रात्रि में अत्यधिक ठंड होती है। इसलिए यहाँ रहने वाले जानवरों के लिए आवश्यक है कि वे जल को कम से कम खर्च करें, शरीर के तापक्रम को अधिक बढ़ने न दें, मरुस्थल की तेज धूलभरी हवा तथा शत्रुओं से अपनी रक्षा करें और अपने वंश को कायम रखने के लिए प्रजनन करते रहें।

हमारे देश के थार मरुस्थल में ये जरविल-चूहे सफलतापूर्वक अपना जीवन यापन कर रहे हैं। इसका एक मात्र कारण यही है कि इन्होंने काफी सीमा तक उपर्युक्त कठिनाइयों के अनुरूप अपनी आदतों, आकार एवं शारीरिक कार्यकी में परिवर्तन कर लिया है।

शत्रुओं से रक्षा के लिए इन जरविलों ने उछलकर तेज भागने और जमीन के अन्दर बिल में रहने की आदत डाल ली है। साथ ही इनकी दृष्टि एवं श्रवण शक्ति तीव्र हो गई है, जिससे थोड़ी भी आहट लगने से ये दौड़ कर बिलों में घुस जाते हैं। ये अपने बिल में कई द्वार बनाते हैं जिससे आवश्यकता पड़ने पर किसी भी द्वार से निकल कर भाग सकें। इसके अतिरिक्त इनके शरीर का रंग वाह्य वातावरण के रंग से मिलता-जुलता होता है जिससे इनके शत्रु इन्हें आसानी से देख नहीं पाते और ये भागकर अपनी रक्षा कर लेते हैं। बिल में रहने का दूसरा लाभ यह है कि वहाँ तापक्रम कुछ नियंत्रित रहता है। इसलिए वाह्य तापक्रम का इन पर ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता। खाना खाने के लिए ये प्रातः एवं सायं ही बिल से बाहर निकलते हैं जब कि वाह्य तापक्रम समशीतोष्ण होता है।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है ये चूहे अपने रहने के लिए जमीन में बिल खोदते हैं। इनके हाथ व पैर के लम्बे नाखून रेत को आसानी से खोदकर ढीला कर देते

हैं जिसे ये अपने लम्बे पैरों द्वारा बाहर फेंक देते हैं। जिन जरविलों के पैर के तलुवे में रोएं होते हैं वे ब्रुश का कार्य करते हैं और इस कार्य को सुचारु रूप से करने में मदद देते हैं।

जरविल बहुत तेज दौड़ते हैं और आवश्यकता पड़ने पर छलांग भी लगाते हैं। इससे न केवल ये एक जगह से दूसरी जगह जल्द पहुँच जाते हैं, बल्कि इनका शरीर भी गर्म रेत के स्पर्श में कम आता है। छलांग लगाते समय इनके पैर के लम्बे तलुवे लम्बी छलांग लेने में और हाथ जमीन पर रोकने में सहायता करते हैं। इनकी लम्बी बालोंवाली पूंछ शरीर को संतुलित रखती है। यहाँ पर यह बतलाना अनुचित न होगा कि अफ्रीका के जरबोआ (जैकुलस) बिना हाथ का सहारा लिए, पैरों द्वारा बहुत दूर तक कूदते हुए चले जाते हैं। इस कारण इनके पैर के तलुवे न केवल बहुत लम्बे हो गए हैं बल्कि घोड़ों की तरह इनके तलुवे की तीन मेटाटार्सल हड्डियाँ जुड़ कर एक हो गई हैं जो इन्हें तेज उछलने में सहायता देती हैं।

अब हमें यह देखना है कि जरविल मरुस्थल में जल की कमी को किस प्रकार झेलते हैं। मरुस्थल में रहनेवाले जानवरों को वस्तुतः जल की आवश्यकता दो कार्यों के लिए होती है : (1) शरीर के तापक्रम को बढ़ने से रोकने के लिए, और (2) अन्य शारीरिक क्रियाओं को करने के लिए।

मरुस्थल के तेज ताप को ये जरविल सह नहीं पाते। इसलिए ये गर्मी से दूर जमीन के भीतर बिलों में छिपे रहते हैं। गर्मी में दोपहर के समय जमीन की सतह का तापक्रम औसतन 55° से० या उससे अधिक तथा रात्रि के समय लगभग 26° से० होता है। इस प्रकार सतह पर दिन व रात के तापक्रम में लगभग 28° से 29° से० का अन्तर होता है। यह अन्तर जाड़े में भी लगभग 20° से० तक होता है। परन्तु जमीन के अन्दर दैनिक तापक्रम में अन्तर न केवल मात्र 1° से 3° से० तक होता है, बल्कि वहाँ का तापक्रम बाहरी सतह की तुलना में समशीतोष्ण भी होता है। इसलिए चूहों की ये बिलें शीत-ताप नियंत्रित गृह का कार्य करती हैं जिनमें दिन में तापक्रम बाहरी सतह के तापक्रम से 12—20° से० कम तथा रात्रि में 8—10° से०अधिक रहता है। इसके अतिरिक्त बिल के अन्दर आर्द्रता भी बाहर की तुलना में अधिक होती है। इसलिए वहाँ कभी भी इतना तापक्रम नहीं होता कि इन चूहों को अपने शरीर के तापक्रम को कम करने के लिए जल की आवश्यकता पड़े। यदि किसी कारणवश इन चूहों को दोपहर में बिल के बाहर रहना पड़ता है तो ये थोड़ी देर तक अपने मुँह के चारों ओर थूक से गीला करके शरीर को ठंडा कर लेते हैं।

इन जरविलों को अन्य शारीरिक क्रियाओं के लिए जल की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति ये खाये हुए भोजन के अन्दर के प्राकृतिक जल से तथा भोजन के ओषदीकरण से प्राप्त जल से करते हैं। क्योंकि इन दोनों क्रियाओं से इन्हें सीमित मात्रा में ही जल प्राप्त होता है इसलिए ये जल को कम से कम नष्ट करते हैं। इनमें त्वचा से उत्सर्जन नाम मात्र को ही होता है। श्वसन द्वारा भी फेफड़ों से कम जल ही भाप बन कर बाहर निकलता है क्योंकि इनके श्वाँस का तापक्रम बहुत कम होता है और

उसे नम करने में कम जल लगता है। इनके मूत्र में भी जल की मात्रा इतनी कम होती है कि उसमें रासायनिक पदार्थों का गाढ़ापन समुद्र के जल से भी अधिक होता है। मल की मात्रा कम होने से उसमें भी जल नाम मात्र को ही नष्ट होता है।

शीतऋतु में जरविल सूखे बीजों को खाते हैं, परन्तु गर्मी में ये जड़, तने, पत्तियाँ तथा कीड़े-मकोड़े खाने लगते हैं जिनमें बीजों की तुलना में जल अधिक होता है। इसके अतिरिक्त बीजों में जल की मात्रा बाहरी आर्द्रता पर भी निर्भर करती है। साधारण सूखे बीजों में जल की मात्रा 10 प्रतिशत तक होती है जो रात्रि में बढ़कर 20 प्रतिशत तक हो जाती है। क्योंकि ये चूहे अपना भोजन प्रातः, सायं व रात्रि में ही करते हैं इसलिए इन बीजों से ही इन्हें जल की अधिक मात्रा प्राप्त होती है।

कुछ जरविलों की आदत है कि फसल के दिनों में वे अपनी बिलों में बीज इकठ्ठा करते हैं, और उसे उन दिनों में खाते हैं जब बाहर फसल नहीं रहती। इस प्रकार गर्मी के दिनों में इन्हें बिल के बाहर कम जाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इन बीजों में जल की मात्रा अधिक होती है क्योंकि एक तो बिल में आर्द्रता प्राकृतिक रूप से ही अधिक होती है और दूसरे वह श्वसन की नमी से और बढ़ जाती है।

ये चूहे अतिरिक्त जल की आवश्यकता भोजन के ओषदीकरण से प्राप्त जल से भी पूर्ण करते हैं। उदाहरणार्थ 100 ग्राम जौ के ओषदीकरण के लिए 81.44 लीटर ओषजन की आवश्यकता होती है और उससे 53.7 ग्राम जल प्राप्त होता है। परन्तु 81.44 लीटर ओषजन प्राप्त करने के लिए श्वसन में 43.9 ग्राम जल भाप बन कर नष्ट होता है। इस प्रकार शरीर को लगभग 10 ग्राम जल प्राप्त होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन जरविलों ने अपने को मरुस्थलीय परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित कर लिया है और बिना बाहरी जल के बहुत दिनों तक जिन्दा रह सकते हैं।

यह सर्वविदित है कि चूहे मनुष्य जाति का अत्यधिक नुकसान करते हैं, परन्तु उनकी रोकथाम करना कोई सरल कार्य नहीं है। अब हमारी सरकार इस ओर सजग है। हाल ही में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने चूहों की रोकथाम के लिए राष्ट्रीय स्तर पर एक विस्तृत योजना तैयार की है। देश में आठ जगहों पर चूहों की रोकथाम की शिक्षा की व्यवस्था की गई है, जहाँ पर खेतों और घरों में चूहों की रोकथाम की पद्धति, जहरीला चारा तैयार करने का तरीका, जहर को सावधानी से प्रयोग करने और उससे मनुष्यों को बचने के उपाय इत्यादि के बारे में शिक्षा दी जाती है। परन्तु किसी भी ऐसे कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए पहले हमें जनता को शिक्षित करना होगा और उन्हें यह बतलाना होगा कि इन चूहों से वास्तव में कितना नुकसान हो रहा है और इनकी रोकथाम से हम अन्न के मामले में आत्मनिर्भर हो सकते हैं।

—००—

प्राणि-जगत, 1 : 23-25 (1980)

कुरी का खटमल (लेन्टाना बग)

राजेन्द्र कुमार वार्ष्णेय

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

गत कुछ वर्षों से देश में कुरी या पुटूस (लेन्टाना) के पौधे पर पाये जाने वाले कीड़े (लेन्टाना बग) की बहुत चर्चा हुई है। इस सम्बन्ध में देश की धर्मयुग, दिनमान, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि अनेक प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में कई लेख तथा चित्र छपे। इस वैज्ञानिक समस्या पर देशवासियों का भी ध्यान खिचा।

इस प्रसंग में सबसे पहला लेख "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" के 25 जनवरी 1976 के अंक में छपा था, जिसमें इस पत्रिका के एक पत्रकार श्री हिमांशु जोशी ने उत्तर प्रदेश की पहाड़ियों में स्थित एक प्राथमिक पाठशाला के वयोवृद्ध अध्यापक श्री चन्द्रशेखर लोहुमी का साक्षात्कार प्रकाशित किया था। बाद में श्री देवेन मेवाड़ी ने उसी पत्रिका के 1 फरवरी 1976 के अंक में कुरी के पौधे पर और अधिक जानकारी दी तथा 'कुरी के खटमल' (लेन्टाना बग) की अवस्थाओं के 3 चित्र भी प्रकाशित किये।

कुरी (वैज्ञानिक नाम—लेन्टाना कमारा; शुद्ध नाम—लेन्टाना एक्यूलियाटा) एक अनावश्यक पौधा (वीड) है। इसकी उपज बहुत विस्तार से बढ़ी है, और उसे रसायनों, जलाने या काटने से भी किंचित काबू में नहीं किया जा सका है। इसीलिये कीड़ों द्वारा इसकी रोकथाम पर ध्यान गया है, जिसे 'बाइलोजीकल कन्ट्रोल' कहते हैं।

पत्र-पत्रिकाओं में यह दावा किया गया है कि कुरी के कीड़े की "नई वैज्ञानिक खोज" श्री चन्द्र शेखर लोहुमी ने की है। यह सही नहीं है। तथ्य निम्नलिखित हैं : कुरी के पौधे पर पनपने वाले ३ कीड़े काफी पहले से वैज्ञानिकों ने कुरी की रोकथाम के लिए प्रयोग किए हैं (देखिये "वेल्थ आफ इंडिया, रॉ मेटीरियल्स, अंक 6: लेन्टाना")। इन तीन कीड़ों में सबसे उपयुक्त कीड़े का नाम टीलियोनीमा लेन्टेनी है। इसी कीड़े को श्री लोहुमी द्वारा खोजा हुआ 'कुरी का खटमल' बताया जाता है। टीलियोनीमा लेन्टेनी सबसे पहले मेक्सिको में पाया गया था। वहां से इसे कुरी (लेन्टाना) की रोकथाम के लिए हवाई द्वीप समूह में सफलता पूर्वक प्रयोग किया गया, और भारत में भी इस सम्बन्ध में पहले कुछ प्रयास हुए थे (सन्दर्भ : मणि, 1968, पृष्ठ 320)।

भारत में कुरी पर पाये जाने वाले कीड़ों पर पहला वैज्ञानिक-अध्ययन रायबहादुर येलसेती रामचन्द्र राव ने 1920 में प्रकाशित किया। बाद में खान (1945) ने टीलियोनीमा स्क्रूपुलोसा पर अपने अध्ययन के परिणाम प्रकाशित किए। श्री एन० सी०

चटर्जी ने 1942 में इस कीड़े की जीवनी का विस्तृत अध्ययन करके भारतीय वन अनुसंधान शाला, देहरादून, के पुस्तकालय में एक 10 पृष्ठों की पाण्डुलिपि जमा की थी।

इस कीड़े पर सबसे अधिक जानकारी देने वाला शोध-लेख रूणवाल (1952) ने प्रकाशित किया, जिसमें कीड़े का सही नाम, इतिहास, भौगोलिक स्थिति तथा इसके जीवन की प्रत्येक अवस्था और भोज्य–पौधों का विस्तार से वर्णन है। इनके अनुसार टीलियोनीमा लेन्टेनी का शुद्ध नाम टीलियोनीमा स्क्रूपुलोसा है, जिसे सबसे पहले स्टाल नाम के वैज्ञानिक ने दक्षिण अमेरिका से प्राप्त कीड़ों के लिए सन् 1873 में रखा था।

इसके साथ ही रूणवाल (1952) ने इस कीड़े के अण्डों से लेकर वयस्क कीड़े तक सारी अवस्थाओं के सही चित्र तथा विवरण प्रकाशित किये हैं। सारांश यह कि न तो श्री चन्द्र शेखर लोहुमी ने कुरी के कीड़े टीलियोनीमा स्क्रूपुलोसा की सर्व प्रथम "खोज" की है, और न श्री देवेन मेत्राड़ी द्वारा प्रकाशित कीड़े की अवस्थाओं के तीन चित्र ही सही हैं।

टीलियोनीमा कीड़े का वंश टिन्जीडी है, जो कि हेमीप्टेरा क्रम (और्डर) का भाग है। हेमीप्टेरा के सभी कीड़ों को अंग्रेजी में 'बग' कहते हैं। इसलिए टोलियोनीमा का सही नाम हुआ 'लेन्टाना बग'। तब भी टिन्जोडी वंश का सदस्य होने के कारण शुद्ध नामकरण होना चाहिए-'लेन्टाना लेस बग'।

उपरोक्त कथन का एक और भी कारण है। लेन्टाना बग के नाम से एक अन्य कीड़ा भी पहले से जाना जाता रहा है। उसका नाम है आर्थेजिया इन्सिग्निस। यह कौक्सीडी वंश का सदस्य है। यह भी लेन्टाना का भोजन करता है और कुछ हद तक इसका प्रसार रोकने में सफल हुआ है। यह कीड़ा कुछ अन्य पौधों पर भी भारत में पाया गया है।

लेन्टाना लेस बग (टीलियोनीमा स्क्रूपुलोसा) का आयात भारत में आस्ट्रेलिया से 1941 में किया गया था। ये कुछ कीड़े वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए भारतीय वन अनुसन्धान शाला, देहरादून, में रखे गये थे। उस समय के प्रयोगों में पाया गया कि यह कीड़ा कुरी (लेन्टाना) के अतिरिक्त अन्य कई पौधों को खाते हुए भी कई सप्ताह तक जीवित रहता है। इन अन्य पौधों में सागौन (टीक) का बहुमूल्य पौधा भी था। अतएवं कीड़े का तब का संग्रह 1943 में नष्ट कर दिया गया। किन्तु बाद में 1951 में यह कीड़ा देहरादून क्षेत्र में पुनः पकड़ा गया, जिससे ज्ञात हुआ कि यह भारत में कांगड़ा से कुमाऊं तक फैल चुका है। 1969-70 में कुछ कीड़े प्लान्ट प्रोटेक्शन ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट ने हैदराबाद में मंगा कर छुड़वाए थे। बाद में इनकी सन्तति को दक्षिण भारत में अनेक स्थानों पर पाया गया (शिवराम कृष्णन, 1976)। इस कीड़े की वर्तमान भौगोलिक स्थिति तथा कुरी (लेन्टाना) पर इसके द्वारा रोकथाम के सम्बन्ध में हाल में प्रकाशित एक अन्य कीट-वैज्ञानिक (सिंह 1976) का पत्र भी ध्यान देने योग्य है।

मैं भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग के निदेशक का उत्साहवर्द्धन तथा विभागीय सुविधाओं के लिए आभारी हूँ।

सन्दर्भ

खान, ए० एच० 1945. आन द लेन्टाना बग (टीलियोनीमा स्क्रूपुलोसा स्टाल)। इन्डि० जर० आफ एन्टो०, 6 (1-2) [1944] : 149-161।

मणि, म० सु० 1968. जनरल एन्टोमोलौजी। आई० बी० एच० आक्सफोर्ड, बम्बई से प्रकाशित।

राव, येलसेती रामचन्द्र, 1920. लेन्टाना इन्सेक्ट्स इन इन्डिया। मेमो० डिपार्ट० एग्रि० इन्डिया (एन्टो०), 5 (6) : 239-314।

रूगवाल, मि० ला०, 1952. द नेचुरल एस्टेब्लिशमेंट एण्ड डिस्पर्सल आफ एन इम्पोर्टेड इन्सैक्ट इन इन्डिया—द लेन्टाना बग टीलियोनीमा स्क्रूपुलोसा स्टाल (=लेन्टेनी डिस्टाण्ट; हेमीप्टेरा, टिन्जीडी) विद ए डेस्क्रिप्शन आफ इट्स एग, निम्फ्स एण्ड एडल्ट। जर० जूलो० सोसा० इन्डिया, 4 (1) : 1-16।

शिवराम कृष्णन, वी० आर० 1976. अकरेंस आफ लेन्टाना लेस बग टीलियोनीमा स्क्रूपुलोसा स्टाल (हेमीप्टेरा, टिन्जीडी) इन साउथ इन्डिया। इन्डि० फोरेस्टर, 102 (9) : 620–621।

सिंह, प्रताप, 1976. लेन्टाना वीड एन्ड द लेन्टाना लेस बग (लैटर टू द एडीटर, संख्या III)। इन्डि० फोरेस्टर, 102 (7) : 474-476।

—०—

प्राणि-जगत 1 : 27—30 (1980)

मध्य प्रदेश के राष्ट्रीय उद्यान एवं पशु विहार

हरी प्रकाश अग्रवाल एवं दिलीप हर्षे

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, मध्य क्षेत्रीय केन्द्र, जबलपुर [म० प्र०]

भारत को वन ओर उसकी उपज पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त है। वन या जंगलों से वानस्पतिक पदार्थ ही उपलब्ध नहीं होते, परन्तु उनमें विचरण या विहार करने वाले पशु-पक्षी भी सम्मिलित हैं। वन्य प्राणी एक अमूल्य निधि हैं एवं प्रत्येक दृष्टिकोण से हमारी उन्नति के लिये उत्तरदायी हैं। इसी विचार को ध्यान में रखते हुए यह कर्तव्य हो जाता है कि प्रकृति की प्रत्येक देन को, विशेषकर पशु-पक्षियों को प्राकृतिक वातावरण में विचरण करने दें तथा इनकी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखें। इनकी सुरक्षा के विचार से ही भारत में 300 ईसवीं पूर्व चाणक्य ने 'अभयारण्य' का विधान रखा था, जहां पशु पक्षी बिना किसी भय के विचरण कर सकें।

विविध कारणों से हमारे वन्य प्राणियों की बहुत सी जातियां लुप्त होती जा रही हैं। इसी विषय को ध्यान में रखते हुये सरकार ने राष्ट्रीय उद्यानों (अभयारण्यों) व पशु विहारों की स्थापना का प्रावधान रखा है। आज के युग में प्राकृतिक मनोरंजन अनिवार्य सा होने के फलस्वरूप भी राष्ट्रीय उद्यानों व पशु विहारों का अपना विशिष्ट स्थान है। विभिन्न देशों में राष्ट्रीय उद्यानों का स्वरूप उनकी जलवायु, संस्कृति एवं परम्परा के कारण पृथक होता है। उदाहरणार्थ राष्ट्रीय उद्यान ऐसे स्थानों को घोषित किया जाता है जो प्राकृतिक सुन्दरता, ऐतिहासिक एवं पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण हों जबकि अफ्रीका व यूरोपीय देशों में वन्य जीवन को प्राथमिकता दी गई है। राष्ट्रीय उद्यानों का स्वरूप थोड़ा बहुत परिवर्तित हो सकता है परन्तु इनके पीछे मुख्य उद्देश्य वन्य प्राणियों एवं वन्य सम्पदा को तथा ऐतिहासिक एवं पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थलों को संरक्षण प्रदान करना ही है।

भारतवर्ष में भी राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना प्रमुख रूप से वन्य प्राणियों को संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से की गई है। इन राष्ट्रीय उद्यानों में वन्य प्राणियों को मुक्त व अभय विचरण करते देखना एक रोमांचित करने वाला अनुभव होता है जो कि वास्तव में अकथनीय, अवर्णनीय व अतुलित आनन्द दायक होता है।

भारतवर्ष में राष्ट्रीय उद्यान का इतिहास लगभग 45 वर्ष प्राचीन है, जबकि सर्व प्रथम 1935 में हेली राष्ट्रीय उद्यान की स्थापना की गई थी, जो कि आज कोरबिट राष्ट्रीय उद्यान के नाम से विख्यात है। इसके पश्चात बहुत से राष्ट्रीय उद्यानों व पशु विहारों की स्थापना की गई है। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि इनका प्रचार भली प्रकार से न होने के कारण जन साधारण अधिकतर राष्ट्रीय उद्यानों से अनभिज्ञ है। इस समय भारतवर्ष में लगभग 9 राष्ट्रीय उद्यान व 124 पशु विहार हैं। इस उद्देश्य से मध्य प्रदेश भी बहुत महत्व रखता है। मध्य प्रदेश में कान्हा, शिवपुरी एवं बान्धवगढ़ नामक तीन राष्ट्रीय उद्यान हैं, तथा पन्ना, सीरी, डुबरी, शिकारगंज बी, बोरी खेवनी,

शिकारगंज सी (चौथा व पाँचवां भाग) और मौजहार नामक सात पशु विहार हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

(i) कान्हा राष्ट्रीय उद्यान :

सन् 1935 में मांडला जिले में स्थित बंजर गेम रिजर्व, जिसका क्षेत्रफल लगभग 250 किलोमीटर है, सरकार ने पशु विहार घोषित किया था। 1955 में इसे राष्ट्रीय उद्यान बनाया गया। यह अक्षांश 20° 10′ से 20° 20′ उत्तर और देशाँश 80°30′ और 80° 45′ पूर्व के मध्य स्थित है। इस क्षेत्र की अधिकतम ऊँचाई 840 मीटर एवं निम्नतम 535 मीटर है। अधिकतम तापक्रम छाया में लगभग 105° फा० (गर्मी में औसत तापक्रम 70° फा०) और निम्नतम तापक्रम 40° फा० होता है। वर्षा औसतन 125 सेन्टीमीटर होती है।

कान्हा में चीतल, हिरण, कृष्ण मृग, बारहसिंघा, सांभर, नीलगाय और गौर काफी संख्या में पाये जाते हैं। 1974 की गणना के अनुसार कान्हा में 37 बाघ, 20 तेंदुये, 521 गौर, 981 सांभर, 9837 चीतल, 138 बारहसिंघे, 93 कृष्ण मृग, 25 चौसिंगा, 18 नील गाय, 1287 सुअर, 49 जंगली कुत्ते, 23 रीछ और 11 अजग़र हैं। यहां पर शेर, तेंदुआ, जंगली कुत्ते और हायना आदि भी पाये जाते हैं। प्रत्येक किस्म के जन्तुओं का यहां विशेष क्षेत्र है जहां जाने पर वन्य पशुओं को सुविधा पूर्वक देखा जा सकता है। इन क्षेत्रों में जाने के लिये संकेत चिन्ह व्यवस्थित लगे हुये हैं। लगभग पौने दो सौ किलोमीटर लम्बी सड़क है जिन पर जीप, मिनी बस, आदि से भ्रमण किया जा सकता है। घने क्षेत्रों में जाने के लिये हाथी का सहारा लेना पड़ता है। जीप, मिनी बस और हाथी वन विभाग द्वारा भी किराये पर दिये जाते हैं। कई स्थानों पर निरीक्षण मीनार (वाच टावर्स) भी निर्मित है जहां से जन्तुओं का अवलोकन किया जा सकता है। कान्हा विश्राम गृह की भी उत्तम व्यवस्था है जिसका पूर्व आरक्षण वन विभाग दक्षिण मांडला द्वारा किया जाता है। कान्हा में वन्य प्राणियों को देखने का उपयुक्त समय फरवरी से जून मास तक है।

विगत कुछ वर्षों में कान्हा में जानवरों के संरक्षण की दृष्टि से काफी उपयोगी कार्य हुये हैं, फिर भी अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है।

(ii) शिवपुरी राष्ट्रीय उद्यान :

मध्य प्रदेश की सौन्दर्य नगरी शिवपुरी प्रकृति प्रेमियों एवं पर्यटकों के लिये एक विशेष महत्व रखती है। शिवपुरी का महत्व शिवपुरी राष्ट्रीय उद्यान के कारण ही है। पहले यह ग्वालियर के महाराजा का गेम रिजर्व था। सन् 1958 में सरकार ने इसे राष्ट्रीय उद्यान घोषित किया तथा इसका नाम माधव राष्ट्रीय उद्यान रखा गया। परन्तु यह नाम परिवर्तित कर इसे शिवपुरी राष्ट्रीय उद्यान कर दिया गया है। यह उद्यान आगरा बम्बई रोड पर ग्वालियर से 115 किलोमीटर दक्षिण में स्थित है। यह अक्षांश 25° 40′ उत्तर एवं देशांश 77° 44′ के मध्य स्थित है। इस उद्यान का क्षेत्रफल 160 किलोमीटर है। औसत वर्षा 110 सेन्टीमीटर होती है। इस क्षेत्र का अधिकतम तापमान 34° सेन्टीग्रेड और निम्नतम तापमान 21° सेन्टीग्रेड होता है।

बाघ, तेंदुआ, रीछ, लकड़बग्घा, सांभर, चीतल, चौसिंगा, कृष्ण मृग, नील गाय और जंगली सुअर आदि जानवर यहाँ देखने में आते हैं। सख्य सागर झील इस उद्यान का प्रमुख आकर्षण है।

शिवपुरी में वन्य पशुओं की 1974 की गणना के आंकड़े निम्नानुसार है :— 1 शेर, २ तेन्दुआ, 25 भालू, 277 सांभर, 780 चीतल, 425 नील गाय, 580 चिंकारा, 20 कृष्ण मृग, 170 चौसिंगा और 588 सुअर।

इस उद्यान को देखने का उपयुक्त समय अप्रैल से जून मास है। इस अवधि में वन्य प्राणी सख्य सागर के आस-पास घास युक्त क्षेत्रों में एकत्रित होते हैं।

पर्यटकों को सभी सुविधायें यहां आसानी से मिल जाती हैं। दो विश्राम गृह राष्ट्रीय उद्यान में ही स्थित हैं, जिनका पूर्व आरक्षण वन विभाग द्वारा किया जाता है। इस उद्यान में कच्ची पक्की 113 किलोमीटर लम्बी सड़कों का जाल बिछा हुआ है जिससे मिनी बस या जीप द्वारा भ्रमण किया जा सकता है।

(iii) बान्धवगढ़ राष्ट्रीय उद्यान :

बान्धवगढ़ राष्ट्रीय उद्यान शहडोल जिले में अक्षाँश 80° 57′ 30″ से 81° 6′ 15″ उत्तर तथा 23° 36′ 30″ से 23°42′ 30″ पूर्व के मध्य स्थित है। इसे 1968 में राष्ट्रीय उद्यान घोषित किया गया। इस उद्यान का क्षेत्रफल 105 वर्ग किलोमीटर है। यहां का क्षेत्र विभिन्न ऊंचाई की पहाड़ियों से युक्त है। सबसे ऊंची पहाड़ी लगभग 811 मीटर है तथा इस पर 281.25 हेक्टेयर मीटर का क्षेत्र है। इस पहाड़ी पर एक प्राकृतिक किला है और इसी किले के नाम पर इस राष्ट्रीय उद्यान का नाम बान्धवगढ़ राष्ट्रीय उद्यान दिया गया है। यह किला रीवा के राजा का है। इसमें कृष्ण मृग, चीतल पाले गये हैं जो कि आसानी से देखे जा सकते हैं। इस राष्ट्रीय उद्यान में शेर, तेंदुआ, बाइसन, सांभर, चीतल, भालू, जंगली सुअर, सेही, जंगली बिल्ली आदि जानवर देखने में आते हैं। सभी प्रकार के पक्षी इस उद्यान में मिलते हैं। इनमें जंगली मोर, तीतर मुख्य हैं। इस उद्यान की एक विशेषता चरण गंगा नदी है जो किले के नीचे से निकलती है तथा उद्यान के अन्दर दो तीन बार घूम कर ताला गाँव से बाहर निकल जाती है। अभी एक परियोजना के अन्तर्गत इस उद्यान में एक तालाब बनाया गया है, जिसमें मगरों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

इस राष्ट्रीय उद्यान का विकास जारी है। भ्रमण के लिये सड़क बन रही है। उद्यान में ही विश्राम गृह है। अवलोकनार्थ वन विभाग द्वारा जीप की व्यवस्था भी की गई है। कई स्थानों पर वाच टावर्स भी निर्मित किये गये हैं।

इन राष्ट्रीय उद्यानों के अतिरिक्त मध्य प्रदेश में 7 पशु विहार हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

(i) पन्ना पशु विहार :

यह पशु विहार पन्ना जिले में स्थित है तथा 1953 में इसे स्थापित किया गया। इसका क्षेत्रफल 1095.75 वर्ग किलोमीटर है। इसमें शेर, तेंदुआ, चीतल, हिरण, जंगली सुअर आदि जानवर दृष्टव्य हैं।

(ii) सीरी पशु विहार :

यह पशु विहार भी पन्ना जिले में स्थित है। इसे भी 1953 में पशु विहार घोषित किया गया था। इसका क्षेत्रफल 15 वर्ग किलोमीटर है। इसमें सांभर, भालू, चीतल, हाइना, नीलगाय, शेर आदि जानवर पाये जाते हैं।

(iii) डुबरी पशु विहार :

यह पशु विहार जिला सीधी में स्थित है। यह 1953 में बना है। इसमें चीतल, सांभर, हिरण, नीलगाय और तेंदुआ आदि जानवर देखने को मिलते हैं।

(iv) शिकारगंज बी :

यह पशु विहार भी जिला सीधी में स्थित है। यह भी 1953 में पशु विहार घोषित किया गया था। इसमें शेर, गौर, सांभर, नीलगाय, चीतल, जंगली सुअर एवं हिरण आदि जानवर पाये जाते हैं।

(v) बोरी खेवनी पशु विहार :

इसे 1955 में पशु विहार घोषित किया गया और यह जिला देवास में स्थित है। यहाँ पर चीतल, सांभर, तेंदुआ, आदि जानवर पाये जाते हैं। इसका क्षेत्रफल 80.29 वर्ग किलोमीटर है।

(vi) शिकारगंज सी पशु विहार (चौथा एवं पाँचवां भाग) :

यह जिला शहडोल में स्थित है। इसे 1956 में पशु विहार घोषित किया गया। इसका क्षेत्रफल 15 वर्ग किलोमीटर है। इसमें शेर, तेंदुआ, गौर, चीतल, चिंकारा, हिरण, और जंगली जानवर पाये जाते हैं।

(vii) मौजहार शिकार गंज पशु विहार :

यह पशु विहार जिला सीधी में स्थित है। इसका क्षेत्रफल 40 वर्ग किलोमीटर है। इसमें चीतल, सांभर, नीलगाय, सुअर, शेर और तेंदुआ आदि जानवर पाये जाते हैं।

जैसा कि वर्णन किया जा चुका है हमारे वन्य प्राणियों को संरक्षण देने के लिये राष्ट्रीय उद्यान एवं पशु विहार अनिवार्य हैं तथा इन्हीं कारणों से इन्हें विकसित करना आवश्यक है। वन्य प्राणी एवं अन्य वन्य संपदा हमारे राष्ट्र की धरोहर है। मनुष्य जिस वस्तु का निर्माण स्वयं करता है वह पुनः निर्मित हो सकती है, परन्तु प्रकृति ने अतुलित संपत्ति इन विभिन्न विचित्र प्राणियों के रूप में हमें प्रदान की है और यदि इनमें से कोई जाति नष्ट हो जाती है तो इन्हें पुनः प्राप्त करना असम्भव है। इन राष्ट्रीय उद्यानों पर प्रतिवर्ष लाखों रूपये व्यय होता है परन्तु इसे हमें सहन करना होगा जिससे यह राष्ट्रीय धरोहर नष्ट होने से बच सके और प्रकृति का सन्तुलन भी सीमा से बाहर न हो। यदि वास्तव में हम वन्य प्राणियों को सुरक्षा प्रदान कर सके तो देश निश्चितरूप से प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा।

—०—

प्राणि-जगत, 1 : 31—38 (1980)

हाथी

सैयद मुहम्मद अली

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

प्रागैतिहासिक काल से भारतवर्ष की संस्कृति, धार्मिक परम्परा और विश्वासों में हाथी एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रायः साढ़े चार हजार वर्ष प्राचीन हड़प्पा और मोहेन्जोदारो के अवशेषों में भी हाथी की उपस्थिति के अनेक भौतिक चिन्ह प्राप्त हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हजारों वर्ष पहिले से हाथी न केवल एक जनप्रिय प्राणी था, वरन् पुरातन भारतीयों की दिनचर्या में एक विशिष्ट स्थान रखता था। समुद्र मंथन की कथा में एक उपलब्धि थी—ऐरावत, पौराणिक श्वेत हाथी, जो देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र के वाहन के रूप में था। आज भी सम्भ्रान्त और धनी परिवारों में हाथी ऐश्वर्य का प्रतीक माना जाता है।

प्राणि साम्राज्य में थली पशुओं में हाथी आकृति एवं डील-डौल में विश्व के बड़े प्राणियों में से एक है। इस लेख का उद्देश्य हाथी के विषय में ज्ञात वैज्ञानिक तथ्यों पर प्रकाश डालना है। हाथी की अन्य प्राणियों की तुलना में विशेषताएं, आर्थिक महत्व एवं नैसर्गिक संतुलन में स्थान, इत्यादि विषयों पर यहाँ विवेचना की गई है।

हाथी एक स्तनधारी प्राणी है और स्तनपायी (मैमेलिया) वर्ग के अन्तर्गत प्रोबोसीडिया क्रम (ऑर्डर) में वर्गीकृत किया गया है। अंग्रेजी शब्द प्रोबोसिस का अर्थ है सूंड़, और सभी सूंड़ वाले प्राणी प्रोबोसीडिया के अंतर्गत आते हैं। यद्यपि इस क्रम के प्राणी आज बहुत कम हो गये हैं, किन्तु प्राचीन काल में लगभग दस लाख वर्ष से एक करोड़ वर्ष के बीच, हाथी जैसे सूंड़ वाले प्राणियों की कम से कम 352 जातियाँ और उप जातियां, ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप को छोड़कर, सारी दुनियां में पाई जाती थी। कालान्तर में जीवन संग्राम में ये प्राणी अन्य चपल, फुर्तीले और हलके पशुओं से मात खा गये। फलस्वरूप आधुनिक युग में सूंड़ वाले प्राणियों के केवल दो प्रतिनिधि शेष रह गये हैं जो केवल अफ्रीकी-एशियाई भू-समूह में पाए जाते हैं। ये हैं : अफ्रीकी हाथी (गण लोक्सोडेन्टा) और एशियाई हाथी (गण एलीफास)। इनके वैज्ञानिक नाम है—लोक्सोडेन्टा अफ्रिकाना और एलीफास मेक्सिमस। लोक्सोडेन्टा अफ्रिकाना अफ्रीका महाद्वीप में पाया जाता है। एलीफास भारत, सिंहलद्वीप, नेपाल, बांगला देश, ब्रम्हदेश, श्याम, हिन्चदीन एवं मलयद्वीप-पुंज के बोर्नियो और सुमात्रा प्रदेशों में मिलता है।

एशियाई और अफ्रीकी हाथियों की आकृति एवं शरीर रचना में कुछ भिन्नताएं हैं। अफ्रीकी हाथी कद में ऊंचे होते हैं—नर प्रायः 3.6 मीटर (12 फीट) और मादा 3.0 मीटर (10 फीट)। हाथियों की ऊंचाई का पता लगाने का एक सरल तरीका है। ऐसा विशेषज्ञों का अनुभव है कि हाथियों की ऊंचाई (जमीन से कंधों की सीमा तक) उनके सामने वाले पद-चिन्हों की परिधि की दुगुनी होती है। इस

तरीके से पद चिन्हों के घेरे को नापकर हाथियों की ऊंचाई का अनुमान लगाया जाता है। अफ्रीकी हाथियों के कान बहुत बड़े होते हैं—प्राय: 1.8 मीटर (6 फीट) चौड़े। उनकी रीढ़ के पृष्ठ भाग में, कमर के आसपास, उठान रहती है और सूंड़ के छोर पर अंगुली जैसे दो मॉसल छोर, दोनों नथुनों के बीच, एक ऊपर और एक नीचे होते हैं। इसके विपरीत एशियाई हाथियों की ऊंचाई कम रहती है, नर प्राय: 3.0 मीटर (10 फीट) और मादा प्राय: 2.4 मीटर (8 फीट)। औसतन एशियाई नर हाथी 2.7 मीटर (9 फीट) ऊंचा रहता है। इनके कान छोटे होते हैं—अधिकाधिक विस्तार 0.6 मीटर (2 फीट)। इनके सूंड़ के छोर पर दोनों नथुनों के बीच केवल एक मांसल छोर उपर की तरफ होता है। रीढ़ की उठान नहीं रहती, पर कपाल में दो उठानें होती हैं। इन दो जातियों में अन्य भिन्नताएं हैं—अफ्रीकी हाथियों के पिछले पैरों में 3 मोटे नाखून दृष्टिगोचर होते हैं—और एशियाई हाथियों में चार। अफ्रीकी हाथियों के दिखने वाले दाँत बहुत बड़े और नुकीले होते हैं, एशियाई हाथियों के छोटे।

हाथियों का उदयन्त (टस्क) प्रसिद्ध है। अपने दाँतों के कारण ही वे मनुष्य की लालची प्रवृत्तियों के हमेशा से शिकार होते आ रहे हैं। हाथी दाँत से अनेक मूल्यवान वस्तुएं—खिलौने, गहने, मूर्तियाँ, इत्यादि बनाई जाती हैं। हाथी दांत (जो सामने निकले रहते हैं) ऊपरी जबड़े के सामने वाले दाँत हैं, जो विकास के क्रम में बहुत बड़े हो गये हैं। अधिकांश स्तनपायी प्राणियों की दंतमाला में सामने के दो जोड़ी दांत इन्साइजर कहलाए जाते हैं। ये दांत तेज धार वाले होते हैं और काटने के काम में आते हैं। हाथियों में काटनेवाले दाँतों की पहली जोड़ी विलुप्त हो गई है और दूसरी जोड़ी 'हाथी दाँतों' में परिवर्तित हो गई है। अफ्रीकी हाथियों में नर और मादा दोनों में बड़े बड़े हाथी–दांत रहते हैं, किन्तु एशियाई हाथियों में केवल नर ही इन से सुसज्जित रहते हैं (चित्र संख्या-1)। कई वयस्क नर बिना 'हाथी दाँत' के रहते हैं—ये 'मकना' कहलाते हैं (चित्र संख्या-2)। अफ्रीका में 'मकना' नहीं मिलते। अफ्रीकी नरों के दाँत मादाओं की तुलना में बड़े, भारी एवं कड़े होते हैं। अब तक ज्ञात सबसे बड़े अफ्रीकी हाथी दाँत की लम्बाई 3.43 मीटर (4 फीट 5½ इन्च) पाई गई। परन्तु औसतन रूप से ये प्राय: 1.5 मीटर से 2.4 मीटर (5 से 8 फीट) लंबे रहते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है एशियाई हाथियों में केवल नर ही 'दंतैल' होते हैं। मादाओं के दिखाऊ हाथी दाँत नहीं रहते—लेकिन उसी स्थान में, सूंड़ और ओठों के बीच में, छोटी खींसों के रूप में छोटे दांत रहते हैं, जो बाहर से नहीं दिखते। मादाएं, बच्चे, अर्धवयस्क नर, एवं 'मकना' नर, दाँतों के आधार पर एक से रहते हैं। 'मकना' (चित्र-2) नर केवल भारत, लंका और ब्रह्मदेश में पाये जाते हैं। अन्य एशियाई देशों में वे बहुत ही कम हैं। भारतीय दंतैलों के दाँत अफ्रीकी हाथियों की तुलना में छोटे और हलके रहते हैं। सबसे बड़े एशियाई हाथी दाँतों का माप 2.97 मीटर (9 फीट, 10 ½ इन्च) पाया गया है। साधारणत: एशियाई हाथी दाँत

चित्र 1—दंतैल हाथी

चित्र 2—मकना हाथी

(चित्र : श्री एस० पी० शाही, राँची, के सौजन्य से)

चित्र 3—गणेश (एकदंत)

(चित्र : श्री एन० सुन्दरराज, बॅगलौर, के सौजन्य से)

चित्र 4—हाथियों की जल क्रीड़ा

केवल 1.5 मीटर से 1.8 मीटर (5 से 6 फीट) लम्बाई के रहते हैं। ऐसा कहा जाता है कि हाथी दाँतों की बढ़ान पर भोजन, रहन सहन एवं वातावरण का बहुत असर होता है। यदि पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक भोजन एवं पानी न मिले तो हाथी दाँत बहुत बड़े नहीं हो पाते। भौगोलिक विस्तरण का भी हाथी दांतों की लम्बाई पर कुछ असर होता है। अफ्रीका में काँगों के घने जंगलों में पाये जाने वाले हाथियों के दाँत छोटे और दुबले होते हैं, किन्तु केन्या के खुले जंगलों में वृहताकार दँतैल पाये जाते हैं। भारतीय हाथियों के दाँतों में भी कुछ प्रादेशिक भिन्नताएं पाई गई हैं। असम और मैसूर के हाथियों के हाथी दांत बड़े होते हैं। एक दाँत वाले हाथी को 'गणेश' (एकदंत) कहते हैं (चित्र-संख्या-3)।

हाथी दाँत हाथी की आयु के प्रथम वर्ष से ही बनने लगते हैं। बच्चों के दांत छोटे रहते हैं, सूंड़ और ओठों के बीच छुपे हुए और उनकी लम्बाई प्राय: 5 सेन्टी-मीटर (२ इन्च) रहती है। अनेक वैज्ञानिकों का मत है कि दो वर्ष की उम्र में बच्चों के बाल्यदंत गिर जाते हैं और उनके स्थान में नये दाँत निकलते हैं जो वयस्क नरों (चित्र संख्या-1) में बढ़कर हाथी दाँत बन जाते हैं। डॉ० इवान्स के मतानुसार बाल्य दंत नहीं गिरते, वरन् उम्र के साथ बढ़ते जाते हैं। हाथी दाँतों की वृद्धि जीवन भर चलती रहती है, किन्तु आयु क्रम के साथ-साथ बढ़ने की गति क्षीण होती जाती है।

हाथी दाँत केवल दिखाने के लिये नहीं होते। ये इन प्राणियों के जीवन यापन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वयस्क एवं शक्तिशाली दंतैल अपने झुण्ड का मुखिया रहता है और शत्रुओं से मुठभेड़ करता है। अपने तीक्ष्ण एवं मजबूत दाँतों के प्रहार से यह 'गौर' (जंगली भैंसा) जैसे बृहताकार शक्तिशाली पशु को भी भूमि-सात् कर देता है।

हाथियों में खाने के दांत ज्यादा नहीं होते। काटने वाले दांत तो नरों में 'हाथी-दांत' बन जाते हैं। सुवा दाँत (कैनाइन) होते ही नहीं। दाढ़ें एक-एक जबड़े के अर्धांश में केवल एक-एक रहती हैं। हाथी पर्याप्त मात्रा में भोजन करते है और इसे चबाने के लिये इन्हें मजबूत दांत चाहिये। इसीलिये इनकी दाढ़ें बहुत विशाल रहती हैं, अर्थात छोटी चक्की के पाटों जैसी चर्वण क्रिया के कारण दाढ़ें घिस घिसकर क्षीण हो जाती हैं। इस असुविधा के निवारण के लिये जबड़ों में नई दाढ़ों की वृद्धि की प्राकृतिक व्यवस्था है। आयुक्रम में जब पुरानी दाढ़ें घिस जाती हैं, तो उनका स्थान नई दाढ़ें ले लेती हैं। उदाहरणार्थ हाथी के जीवन के 2 वर्ष, 6 वर्ष, 9 वर्ष, 20 से 25 वर्ष, एवं चालीसवें वर्ष में पुरानी दाढ़ें गिरकर नई दाढ़ें निकलती हैं। इनकी स्थिति में परिवर्तन होता रहता है क्योंकि नई दाढ़ें ठीक उसी स्थान पर नहीं निकलती वरन् पुरानी दाढ़ों के पीछे निकलती हैं। क्रमश: दाढ़ें जबड़े के अग्रिम स्थान से खिसक कर पीछे हो जाती हैं।

हाथी की सूंड़ बहु कार्य–शील है। यह एक शक्तिशाली माँसल अंग है जो दूसरे प्राणियों की नाक के समान है। सूंड़ एक बहुत लम्बी नाक है, जो घ्राणेन्द्रिय तो है ही, साथ में मुंह (पानी पीने के लिये) और हाथ (चीजें उठाने के लिये) का भी काम

करती है। सूंड़ के सिरे पर मांसल 'उँगलियाँ' जो अफ्रीकी हाथियों में दो तथा एशियाई हाथियों में एक ही होती हैं, हाथ की उँगलियों की तरह काम करती हैं। जब सूंड बड़ी बड़ी चीजों को उठाती है, ये 'उँगलियाँ' सुई जैसी सूक्ष्म वस्तुएं अथवा सिक्के जैसी समतल पतली चीजों को भी सुगमता से उठा सकती हैं। घ्राणेन्द्रिय के रूप में सूंड़ अत्यन्त चेतन अंग है जो वायु के माध्यम द्वारा प्रसारित गंधों को पहिचान कर अन्य प्राणियों का आभास पा जाती है। इसकी मदद से आवश्यकता पड़ने पर हाथी अपने साथियों को सतर्क कर सकता है। इसके सिवाय सूंड श्वसन क्रिया, स्पर्श और पानी पीने के उपयोग में भी आती है। हाथ के रूप में सूंड़ बड़ी बड़ी भारी चीजों को उठाकर गेंद जैसा उछाल सकती है। खतरे की आशंका अथवा क्रोधित अवस्था में जो डरावनी चिंघाड़ (दुंदुभी नाद) होती है, वह भी सूंड़ के माध्यम से वायु विक्षेप के द्वारा ही होती है। मादा हाथी अपने बच्चों का पथ प्रदर्शन और नियंत्रण भी सूंड़ द्वारा करती है। हर्षातिरेक से हाथी जब प्रफुल्लित होते हैं तब इसका उद्घोष भी सूंड़ के उठने से होता है। सिर और शरीर के बाजू में कीड़े-मकोड़ों को भगाने का काम भी सूंड़ द्वारा लिया जाता है। अकसर हाथी अपनी सूंड़ों में पेड़ की घने पत्तेवाली शाखें तोड़कर लपेट चलते हैं, जिनके द्वारा शरीर से मक्खियां और अन्य कीड़ों को भगा सकते हैं। भोजन को मुंह में ले जाने का काम भी सूंड़ का होता है। कहने का अर्थ यह कि हाथी की सूंड़ जैसा बहुगुणीय अंग प्राणियों में सामान्यतः नहीं मिलता।

हाथी एक बहुत ही सचेतन प्राणी है। ऐसा अनुभव है कि भूकंप जैसी प्राकृतिक दुर्घटनाओं का पूर्वाभास भी हाथी सूक्ष्म कंपनों से पा जाता है। इस विषय पर श्री निकाल्स फ्रेन्क ने, जो असम के वन विभाग में एक वरिष्ठ अधिकारी थे, बम्बई नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी की पत्रिका के 1954 वर्ष के खण्ड में एक महत्वपूर्ण विवरण दिया, जो उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है : "गत मार्च में प्रातः छह बजे भयानक भूकम्प हुआ। उस समय मैं एक नदी के किनारे डेरा डाले हुए था। मेरा अपना हाथी, जो एक बड़ा दंतैल था, मेरी सवारी के लिये डेरे की ओर आ रहा था। एकाएक उसने सूंड़ उठाकर चिंघाड़ना शुरू कर दिया। उसी समय मैंने चारों ओर जंगल में अन्य जंगली हाथियों का नाद भी सुना। तभी जमीन पर एक बड़ा झटका आया और जमीन से गर्जन की ध्वनि आने लगी। इसी के साथ-साथ हाथियों ने भी सामूहिक चिंघाड़ना शुरू कर दिया।

मुझे ठीक ऐसा ही अनुभव दस वर्ष पूर्व भी हुआ था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भूकम्प आने के समय, या कम से कम भारी भूकम्प के अवसर पर, हाथियों के झुण्ड द्वारा चिंघाड़ना एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है।"

हाथी की आँखें बहुत छोटी तथा एक दूसरी से दूर होती हैं। हाथियों की दृष्टि बहुत ही कमजोर रहती है। वे अपने सामने की चीजें भी स्पष्ट रूप से नहीं देख सकते। दृष्टि-क्षीणता की कमी की पूर्ति हाथीकी घ्राणेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय करती हैं। सूप जैसे विस्तृत कान अपने घुमाव द्वारा आसपास की विभिन्न आवाज़ों को एकत्रित कर सकते हैं और इस तरह अन्य प्राणियों की उपस्थिति का आभास

पा जाते हैं। इसमें सूंड़ का कार्य भी महत्वपूर्ण है। वायु के माध्यम से प्रसारित विभिन्न गंधे कणों का घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करना भी आसपास की वस्तुओं की पहिचान में सहायता करता है।

हाथियों के कान और आंख के बीच में एक सकरी दरार जैसा छिद्र रहता है जो कनपटी ग्रन्थि का बाह्य रंध्र है। इस ग्रन्थि के कार्य के विषय में प्राणि वैज्ञानिकों में मतभेद है। जब हाथी 'मस्त' हो जाता है, या किन्हीं कारणों से घबरा जाता है तब 'कनपटी ग्रन्थि' से एक गहरे रंग का तैलीय द्रव बाहर निकलने लगता है। यह द्रव ग्रन्थि के छिद्र से निकलकर चेहरे के आसपास फैल जाता है। यह द्रव तीव्र दुर्गन्ध वाला होता है और चेहरे पर दाग छोड़ देता है (देखें चित्र संख्या–२)। जब कनपटी ग्रन्थि क्रियाशील रहती है तब हाथी के स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है और ऐसी अवस्था में हाथी 'मस्त' कहलाता है—तथा स्वभाव से चिड़चिड़ा और क्रोधी हो जाता है। मस्त अवस्था में हाथी बहुत ही खतरनाक हो जाता है और साधारण तौर से झुण्ड के बाहर निकलकर एकाकी विचरण करता रहता है। नर या मादा, दोंनों ही, 'मस्त' हो सकते हैं, किन्तु मस्त मादाएं उतनी खतरनाक नहीं होती जितने मस्त नर। मस्त अवस्था दस-बीस दिन तक चलती है, उसके बाद अपने आप स्थिति साधारण हो जाती है। अभी तक यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि हाथी की मस्त अवस्था किसी नियमित चक्र में, या विशिष्ट मौसम में आती है, या अनिश्चित अनियमित रूप में। जन साधारण में विश्वास है कि कामवासना का प्रकोप और 'मस्त' अवस्था में सम्बन्ध है, किन्तु इसका कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है।

हाथी की पूंछ छोटी होती है। पूंछ के सिरे पर नुकीले तार जैसे कड़े केश रहते हैं। पूंछ का साधारण कार्य अपने दायरे के भीतर मक्खी, मकोड़ों इत्यादि को भगाना है। इसके सिवा मादा हाथियों में पूंछ 'यौन आकर्षण' के काम में भी आती है। ऋतु में आई हुई हथिनियों के भगदेश से एक तरल पदार्थ का स्राव होता है। यह तरल पदार्थ पूंछ सोख लेती है और उसके गंध कण आसपास के वातावरण में नर हाथियों को आकर्षित करने के लिये प्रसारित करती है।

नर हाथियों का लिंग अनुत्तेजित अवस्था में उदर के अन्दर खिंचा रहता है। उसके अण्डकोष भी बाहर नहीं झूलते, वरन् उदर की सीमा में स्थित रहते हैं। हथिनियों में एक जोड़ी स्तन होते हैं, जो सामने के पैरों के बीच में रहते हैं। इस दृष्टि से हथिनी और अन्य पशुओं के स्तनों की स्थिति में अन्तर है, क्योंकि अन्य पशुओं के स्तन उदर के पीछे के हिस्से में पिछले पैरों के बीच में रहते हैं।

भारत में हाथी पर्वतीय और उप-पर्वतीय वनों में पाये जाते हैं। इस प्राणी के भौगोलिक प्रसार के लिये वनों और स्थल की आसन्नता अनिवार्य है। प्राचीन काल में हाथी का भारत में विस्तारपूर्वक वितरण था लेकिन आजकल ये पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा असम, नागालैन्ड, मेघालय, बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, तामिल नाडु, कर्नाटक और केरल के वनों में ही पाये जाते हैं। आँध्र प्रदेश, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में

आज कल हाथी नहीं मिलते। ऐसा अनुमान है कि वर्तमान समय में भारत में जंगली हाथियों की कुल संख्या प्राय: 8000 और 10,000 के बीच है।

साधारणत: हाथी झुण्डों में रहते हैं। हाथी का झुण्ड एक पारिवारिक समूह में होता है जिसमें प्रमुख नर (दंतैल या मकना), वयस्क मादाएं, अर्धवयस्क नर या मादा, एवं बच्चे सम्मिलित रहते हैं। हाथी के झुण्ड में अकसर 10 से 14 प्राणी रहते हैं। प्रमुख नर सबसे अधिक उम्र का वयस्क पशु होता है जो अत्यंत शक्तिशाली होता है, और दल के अन्य सदस्यों की गतिविधियों पर नियंत्रण रखता है। आपात-काल में दल के बचाव की जिम्मेदारी भी प्रमुख नर की होती है। भोजन, पीने का पानी और उपयुक्त विश्राम स्थल की खोज में हाथियों के झुण्ड निरन्तर स्थान परि-वर्तन करते रहते हैं। जब एक प्रदेश में ऋतु परिवर्तन के कारण जीवन यापन की सुविधाएं कम हो जाती हैं, तब ये प्राणी अन्य क्षेत्रों की ओर जाते हैं, और जब मूल क्षेत्र में उपयुक्त अवस्थाएं पुनरावृत होती हैं तब ये फिर उन्हीं जगहों में वापिस आ जाते हैं। इस तरह के नियमित स्थानान्तर को परिव्रजन कहते हैं और हाथियों में परिव्रजन की घटना साधारण रूप से घटित होती रहती हैं। परिव्रजन के समय ये उसी पथ विशेष का उपयोग करते है जिन पर उनके पूर्वजों ने यात्रा की थी। परि-व्राजक हाथियों के झुण्ड का प्रत्येक सदस्य एक दूसरे के पास रहता है और बेकार इधर उधर नहीं भटकता। इस सामूहिक भ्रमण का नेतृत्व दल की सबसे वयस्क मादा करती है और सदस्य एक पंक्ति में एक के पीछे एक चलते है। दल का प्रमुख नर कतार में सबसे पीछे रहता है, उसका मुख्य कर्तव्य अन्य प्राणियों का व्यवस्थित नियं-त्रण और संकटकाल में दल का बचाव करना है।

साधारणत: भिन्न–भिन्न दल अलग-अलग रहते हैं किन्तु परिव्रजन के समय अनेक दल एक साथ मिल कर सम्मिलित प्रवास भी करते हैं। कभी कभी एकाकी नर, मादा अथवा युवा नर भी इन दलों में सम्मिलित हो जाते हैं।

अकसर एकाकी वयस्क नर हाथी जंगलों में, पारिवारिक दलों से अलग विचरण करते पाये जाते हैं। ऐसे एकाकी प्राणी प्राय: ऐसे बूढ़े नर रहते हैं जो अपने झुण्डों को नियंत्रित रखने में सामर्थ्यहीन हो जाते हैं और फलस्वरूप समूहों से अलग होकर एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं। एकाकी नर हाथी अकसर चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं। कभी कभी 17 या 18 वर्ष के युवा नर भी एकाकी जीवन पसंद करते हैं। वे दल के इर्द गिर्द घूमते हैं, सामूहिक जीवन से परे, परन्तु मैथुन के लिये मूल दलों में वापिस आ जाते हैं। एकाकी तरुण नर हाथी बहुत सतर्क प्राणी है। यदि एक साथ एक से अधिक एकाकी नर मैथुन के लिये दल में आ जायें तो उन नरों में भयानक प्रतिद्वन्द्विता शुरू हो जाती है, जो कमजोर नर के लिये घातक सिद्ध हो सकती है।

हाथियों के भिन्न-भिन्न दलों के कोई निश्चित सीमाबद्ध वास-क्षेत्र नहीं होते। साधारणत: वे ऐसे क्षेत्रों में रहते हैं जहां उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। हाथी शाकाहारी प्राणी है और अनेक जातियों के पौधे और वनस्पति उसके भोज्य-पदार्थ हैं। आहार योग्य वनस्पतियां बारहों मास एक ही क्षेत्र में हमेशा उपलब्ध नहीं होतीं। इसलिये हाथियों में परिव्रजन की परम्परा है जिससे वे सदैव अपने जीवनयापन

के योग्य वस्तुएं पा सकें। परिव्रजन के अवसर पर सामूहिक प्रवासों की दिशा, पथ एवं निर्दिष्ट स्थान परम्पराजन्य प्रथा और वंशीय स्मरण शक्ति पर निर्भर रहते हैं। इस क्रिया के पीछे अनेक पीढ़ियों का अनुभव होता है, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी सीखती जाती है। क्योंकि हाथियों के दल साधारणः पारिवारिक दल रहते हैं, इसलिये दल का प्रत्येक सदस्य अपने साथियों एवं वयस्कों के क्रिया-कलापों का अनुकरण करके ज्ञान एवं अनुभव एकत्रित करता रहता है और इस तरह वंश-परम्परा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुँच जाती है।

हाथियों की नियमित एवं व्यवस्थित दिन चर्या रहती है। उनका दैनिक क्रिया कलाप उषा काल से प्रारम्भ होता है और मध्य रात्रि तक चलता रहता है। प्रातः, संध्या ओर रात्रि का प्रथम प्रहर हाथियों की क्रियाशीलता के समय हैं। जैसे–जैसे सूर्य की किरणें तीव्र होती जाती हैं, उनकी क्रियाएं कम हो जाती हैं और वे जंगलों में घने वृक्षों की शीतल छाया में विश्राम करने चले जाते हैं। दोपहर के बाद ढलते सूर्य के साथ-साथ वे फिर कार्यरत हो जाते हैं जो मध्यरात्रि तक चलता है।

हाथियों की पसन्द के भोजन पदार्थ में सभी जातियों के बॉस, गन्ना और गन्ना परिवार के घास, जंगली केलों के पेड़, तथा वट, पीपल, गूलर, खैर, सागौन प्रभृति वृक्षों की छाल और पत्ते आते हैं। वे महुआ, बेर, बेल इत्यादि के फल भी खाते हैं। दोपहर की गरमी उन्हें असह्य है और यह उनके आराम का समय है। मध्यरात्रि से उषाकाल तक निद्रा का समय है। पाँच वर्ष की आयु तक के बच्चे और मादाऐं जमीन पर बैठकर या लेटकर सोते हैं। वयस्क एवं दूसरे तरुण नर खड़े खड़े, अथवा पेड़ के तने या बड़ी चट्टानों का सहारा लेकर सोते हैं। निद्रित अवस्था में भी हाथी सावधान रहते हैं और छोटे से खटके की आवाज से भी तुरन्त जाग़ जाते हैं। ऐसा विश्वास है कि नर हाथी (विशेषकर वयस्क प्रमुख नर हाथी) खड़े खड़े इसीलिये सोता है कि आपातकाल से एकदम बचाव के लिये तत्पर हो सके। लेटे हुए हाथी को, आवश्यकता पड़ने पर, अपने भारी शरीर को लेकर खड़े होने में कुछ समय लगता है, जो दल की कुशलता के लिये घातक सिद्ध हो सकता है।

हाथियों के भोजन एवं पानी पीने का समय सामूहिक मनोरंजन का अवसर है। बड़े बड़े पेड़ों की मजबूत शाखाओं को एक झटके में तोड़ते हुए वे हर्षातिरेक से चिंघाड़ने लगते हैं। भोजन के समय दल के सदस्यों में धक्का मुक्की होती है क्योंकि प्रत्येक पशु अपने लिये सबसे अच्छी सुविधाएं चाहता है। धक्का धक्की के समय विरोधात्मक चिंघाड़ और चीखें भी सुनाई पड़ती हैं। हाथी का नाद उसके विभिन्न मानसिक भावों का अंकन है। क्रुद्ध हाथी गरजता है, पीड़ा से चीखता है या चिंघाड़ता है, आपत्ति की सूचना भी चिंघाड़कर देता है। हर्षातिरेक में सूँड़ को ध्वजा जैसा उठाकर बहुत ज़ोर से फुसकारता है या चिंघाड़ता है। अनुभवी व्यक्ति हाथी की विभिन्न आवाजों को पहिचान कर समझ जाते हैं कि हाथी क्रुद्ध है, दर्द से पीड़ित है, अथवा हर्ष से चिंघाड़ रहा है।

हाथी के बड़े शरीर को प्यास भी खूब लगती है और प्यास बुझाने के लिये गैलनों पानी एक बार में पी जाता है। दिन भर के क्रिया कलाप के बाद संध्या काल प्यासे

हाथियों के दलों को पानी की ओर यात्रा एक मनोरंजन घटना रहती है (चित्र संख्या ५)। प्रमुख नर के नेतृत्व में, पंक्तिबद्ध दल, व्यवस्थित रूप से निर्दिष्ट स्थान की की ओर जाता है। एक बार पानी के पास पहुँचे और कतार टूटी। पूरे दल में हंगामा मच जाता है। सूंड़ से मिट्टी और धूल उछाल–उछालकर प्रत्येक प्राणी अपने शरीर को धूल धूसरित कर लेता है। धूल में सनने के बाद वृद्ध नर कुछ पीछे हट जाता है और सबसे वयस्क मादा जल में पदार्पण करती है, पीछे पीछे दल के अन्य सदस्य आते हैं (देखें चित्र–५)। प्यास बुझाने के बाद फिर हंगामा शुरू हो जाता है अर्थात् हाथियों की जलक्रीड़ा शुरू होती है। दल के वयस्क प्राणी खेलते हुए सदस्यों के आस पास घेरा डाल देते हैं, किन्तु अर्धं वयस्क और बच्चे जो सब कुछ भूलकर पानी की होली खेलते हैं, उसका बिना देखे विश्वास नहीं किया जा सकता। सूंड़ में पानी लेकर पिचकारी चलाना, और एक दूसरे पर, या आसमान की ओर छोड़ना। करीब आधा घंटे तक यह जल विनोद चलता रहता है और फिर एकाएक सब रुक जाता है, मानो एक अदृश्य इशारे ने सूचित किया हो कि अब फिर काम का समय हो गया है। एक के बाद एक दल के सदस्य बाहर निकलते हैं और किनारे की गीली मिट्टी को सूड़ में खींचकर सारे शरीर पर उछालकर शरीर को मिट्टी से ढंक लेते हैं। यह क्रिया शरीर को शीतल रखने के साथ त्वचा को भी आराम पहुँचाती है। शरीर की गरमी से जब गीली मिट्टी सूख जाती है तब सूखी मिट्टी की पपड़ियाँ घिस घिसकर निकल जाती हैं।

हाथी की चमड़ी नग्न रहती है। उस पर केश बहुत ही कम होते हैं। त्वचा कोमल और सचेतन रहती है। कड़ी धूप और कीड़े मकोड़ों का प्रकोप त्वचा को सहन नहीं होता। दोपहर को घनी छाया में विश्राम, अतिरिक्त शीतलता के लिये स्नान, और कीड़े मकोड़ों को भगाने के लिये धूल और मिट्टी का स्नान इनके लिये अति आवश्यक है। बरसात में हाथी घने जंगलों को पसंद नहीं करते क्योंकि पत्तों पर इकठ्ठी हुई पानी की टप टप करती हुई बूंदें त्वचा नहीं सह सकती।

हाथी दिन के समय जंगलों में रहते हैं और वहीं खाते हैं। दिन ढलने के बाद वे अकसर आसपास के खेतों पर हमला कर फसलें बरबाद कर देते हैं। समय समय पर हाथियों को, विशेषकर शीतकाल में, नमक की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे समय वे जमीन से मिट्टी के बड़े बड़े ढेले जिनमें नमक अधिक होता है, उखाड़कर खाते हैं।

साधारणतः जंगल में चरते हुए हाथियों का झुण्ड बहुत कोलाहल करता है। पेड़ों की शाखाओं के तोड़ने की चरमराहट, इधर उधर चलते समय शाखाएं टूटने की आवाज इत्यादि से कोई भी यह बता सकता है कि पड़ोस में हाथियों का झुण्ड चर रहा है। किन्तु खतरे की आशंका होते ही दल में निस्तब्धता छा जाती है। सभी सदस्य शांत हो जाते हैं। धीरे–धीरे निःशब्द चापों से बढ़ने लगते हैं। परन्तु अप्रत्याशित घटना से सशंकित हाथियों के दल में जो भगदड़ मचती है वह बहुत ही शोर गुल मचाते होती है। डर से भागते हुए हाथी सामने की किसी बाधा की परवाह नहीं करते। बड़े-बड़े पेड़ों को शरीर के धक्के से गिराकर भागते चले जाते हैं। ऐसी भगदड़ों में दल का सबसे वयस्क मुख्य हाथी पीछे रहकर सन्तरी का काम करता है।

प्राणि जगत, 1 : 39—42 (1980)

महान प्राचीन वास्तु शिल्पी—दीमक

ओम बहादुर छुटानी
भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

मनुष्य ने आधुनिक सुख-सुविधाओं के साथ जीवन-यापन करने के लिये आश्चर्य-जनक कार्य किये हैं। उसने रहने के लिये सुन्दर सजे हुए भवनों को बनाया है और अपनी आवश्यकतानुसार वातावरण को बदल देने के लिये वातानुकूलित यंत्रों का निर्माण किया है। उसने पुराने जमाने में दुर्गों को बनाया था और आज वह अपनी सुरक्षा के लिये अनेक प्रकार के अन्य उपायों का प्रयोग कर रहा है। क्या आप यह सोचते हैं कि मनुष्य ही ने सबसे पहले यह सब प्राप्त किया ? नहीं, कदापि नहीं। मनुष्य के इस दुनिया में आने से बहुत पहले से ही दीमक स्वयं रहने के लिये बड़ी शिल्प कला तथा अभियंत्रण से परिपूर्ण घर या बाँबी बना रही है। दीमक को अंग्रेजी में टरमाइट या व्हाइट आन्ट कहते हैं। ये घर दीमक को प्रकृति में जलवायु के परिवर्तनों तथा शत्रुओं से बचाते हैं। दीमक आवश्यकता के अनुसार ताप या आर्द्रता को बदलती रहती हैं। मनुष्य आज जो अपनी सभ्यता या खेती के कार्यों में की हुई प्रगति के लिये गर्व करता है उसने दीमक की तुलना में यह सब कुछ बाद में ही पाया है। पृथ्वी पर किसी भी जीव ने दीमक से पहले सभ्यता या खेती का परिचय नहीं दिया है। दीमक ने ही सर्वप्रथम पृथ्वी पर सामाजिक सभ्यता स्थापित की और अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लिये फफूंद की खेती की।

दीमक कीट वर्ग में आती हैं और उनकी अनेक प्रजातियां हैं। इनकी तीन मुख्य जातियां होती हैं, प्रजननकारी प्रौढ़ (रिप्रोडक्टिव एडल्ट) या विकसित दीमकों में भावी राजसी जोड़े (रायल पेयर), निष्फल सैनिक (सोल्जर) एवं श्रमिक (वर्कर)। ये विस्तृत सामाजिक जातियों में रहती हैं। इनके सामाजिक रिवाज बहुत विकसित होते हैं। प्रत्येक जाति अपने निश्चित कार्य को करती हुई श्रम विभाजन का शानदार उदाहरण प्रस्तुत करती है।

प्राथमिक दीमक मैस्टोटर्मीटिडी, कैलोटर्मीटिडी और टर्मोप्सिडी वंश की है, जो काठ या उनके बने सामानों में निवास करती हैं, और वे किसी प्रकार भी उसमें मिट्टी का घर नहीं बनाती। वे अपना घर सूखे या नमदार हरी लकड़ियों में बनाती हैं। इनके द्वारा बनाये गये घर (नेस्ट) अनियमित वीथिकाओं या कोष्ठकों के रूप में होते हैं। काठ में घर बनाने वाली दीमक क्रिप्टोटर्मिस जाति की होती हैं जो काठ के लट्ठों तथा घरेलू काठ की वस्तुओं या फरनीचर में अपना घर बनाती हैं। उनके घर में बनी हुई वीथिकायें खाली होती हैं, और काठ की ऊतिका के क्रम में फैली होती हैं। नमदार लकड़ी में घर बनाने वाली दीमक टर्मोप्सिडी वंश की आर्कोटर्मोप्सीस जाति तथा कैलोटर्मीटिडी वंश की बाईफिडीर्टमिस, नीयोटर्मिस तथा ग्लीप्टोटर्मिस जाति की होती हैं और नमी वाले स्थान को पसंद करती हैं। ये दीमकें अपनी वीथिकाओं और कोष्ठकों में उत्सर्जन

में छोड़े गये चिपचिपे त्याज्य पदार्थों को एकत्र करती हैं जो कि आवश्यकतानुसार दीमक को नमी प्रदान करते हैं।

राइनोटर्मिटिडी वंश की दीमक अपने घर जमीन के अन्दर बनाती हैं। लेकिन ये खड़े हुये वृक्षों, जमीन पर पड़ी हुई लकड़ी या लठ्ठों के समूहों तथा घरेलू अन्य लकड़ी के सामानों या फरनीचरों में भी घर बनाकर रहती हैं। रेटिकुलीटर्मिस जाति की दीमक यूरोप और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में लकड़ी आदि को विशेषकर हानि पहुंचाती हैं। वे घरेलू काठ के सामानों या अन्य सेल्यूलोज वाले पदार्थों को नष्ट कर डालती हैं। भारत में हेटरोटर्मिस इन्डिकोला और कॉप्टोटर्मिस हेमाई प्रजाति की दीमक विशेष क्षतिकारी होती हैं।

टर्मिटिडी वंश की विकसित दीमक में शिल्पकला की विशेष योग्यता होती है। उष्ण कटिबंधी (ट्रापिकल) देशों में ये दीमक जमीन पर मिट्टी के बड़े-बड़े और ऊँचे ढूहे (माउन्ड) तथा जंगलों में पेड़ों पर लटकते हुये छोटे गोल फुटबॉल के गेंद की तरह घर बनाती हैं, जिन्हें देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित हो जाते हैं। जमीन पर बनाये गये मिट्टी के ढूहे कई प्रकार के बने हुये मिलते हैं। कुछ बड़े दुर्ग के आकार के होते हैं, जिसमें दुर्ग की दीवारों की तरह उपर उठी हुई दीवारें होती हैं। कुछ कंगूरे के आकार वाले, और कुछ चारों तरफ से गोल गुम्बद की तरह बने होते हैं। इन दीमकों के द्वारा जमीन पर बनाये गये मिट्टी के ढूहों के अन्दर की रचनायें बहुत मनोरंजक होती हैं। इनके अन्दर हमें फफूंद के सुन्दर बगीचे दिखाई पड़ते हैं। उनमें अन्दर की आर्द्रता तथा ताप को बदलने के लिये या हवाओं को आने जाने के लिये चिमनियों और खान के अन्दर के रास्तों की तरह मार्ग बने होते हैं। राजसी जोड़े के लिये उनमें स्वच्छ, साफ राजसी कोस्ठ तथा बच्चों के लिये नर्सरी बनी होती हैं। ये बड़े महान महल की भाँति मिट्टी के दुर्ग का निर्माण करने वाली, अपने समाज के विश्वसनीय श्रमिक जाति की दीमकें होती हैं जो रात-दिन अन्धाधुन्ध काम करती रहती हैं। एक बस्ती में इनकी संख्या कई लाख होती है। प्रत्येक श्रमिक दीमक, मिट्टी के कणों में अपने लार को मिला कर विशेष तरीके से एक कण के ऊपर दूसरा कण जमाती हुई बड़े-बड़े दुर्ग तैयार करने में जुट जाती है। यह पूरा काम बिना आंख वाली श्रमिक दीमकों द्वारा अंधेरे में छिपे तौर से किया जाता है।

टर्मिटेरियम की शिल्प कला आदर्शभूत होती है। इनके द्वारा बनाये गये मिट्टी के घर दीमक की प्रजाति का विशेष लक्षण है। ओडोन्टोटर्मिस ओबेसस दीमक भारत में आमतौर से पायी जाती है, जो ऊंचे दुर्ग की तरह मिट्टी के ढूहे (माउन्ड) बनाती हैं। कभी-कभी ढूहे की ऊंचाई $2\frac{1}{2}-3$ मीटर (8–10 फुट) होती है। इनमें जमीन की सतह पर बहुत अधिक मात्रा में फफूंद के कंधे (फंगस काम्ब) पाये जाते हैं जो मिट्टी की संरचनाओं से आधार प्राप्त करते है। राजसी कोष्ठ (रायल चेम्बर) ठोस और चपटा होता है और उसमें बहुत से छेद होते हैं जिनके द्वारा श्रमिक दीमकें राजसी सेवा के लिये आती-जाती हैं। राजसी कोष्ठ के अन्दर का फर्श समतल और आकार मोटे टेकुई (स्पिन्डल) की तरह होता है और छत गोलाई में होती है। साधारणतया

उममें एक रानी दीमक और एक राजा दीमक रहते हैं। कभी-कभी एक जोड़े से अधिक जोड़े भी पाये जाते हैं। रानी दीमक का पेट समयानुसार अंडों से भरकर एक उंगली की माप का बन जाता है। रानी दीमक अंडे देती है, उसके अंडे देने की गति लगभग एक सेकेन्ड में एक, एक घंटे में 3,600 और एक दिन में 86,400 की संख्या में होती है। जैसे ही अंडे दिये जाते हैं अविलम्ब श्रमिक दीमकें अंडों को नर्सरी में ले आती हैं।

ओडोन्टोटर्मिस रेडमैनाई प्रजाति की दीमक, जो श्रीलंका और दक्षिणी व पूर्वी भारत में पायी जाने वाली साधारण दीमक है, उसके द्वारा जमीन पर बनाये गये ढूहे गुम्बज की तरह होते हैं। ढूहे में अन्दर की तरफ कई कोष्ठकों में फफूंद के कंघे होते हैं। इस ढूहे में बनाया गया राजसी कोष्ठ ढूहे की मिट्टी में रचा होता है और इसका आकार ठीक टेकुई (स्पिन्डल) की तरह होता है।

ओडोन्टोटर्मिस वालोनेन्सिस प्रजाति एक और प्रकार के ढूहे बनाती है जो दक्षिण और मध्य भारत में बहुतायत में पाये जाते हैं। इसके द्वारा बनाये गये ढूहे में बाहर की तरफ खुलने वाली कई चिमनियाँ होती हैं। इस ढूहे का मुख्य भाग तो जमीन के नीचे लगभग एक मीटर गहराई तक चला जाता है। फफूंद कोष्ठ एक दूसरे के ऊपर बने होते हैं और एक दूसरे से कई छेदों द्वारा जुड़े होते हैं और इसमें राजसी कोष्ठ जमीन की सतह से बहुत नीचे होता है।

ओडोन्टोटर्मिस माइक्रोडेन्टेटस द्वारा बनाया गया ढूहा भी गुम्बज के आकार का होता है लेकिन इसके बाहरी सतह पर कई गोल गुम्बदके आकार की रचनायें होती हैं। अन्दर की तरफ इसकी रचना ठीक ओडोन्टोटर्मिस रेडेमैनाई दीमक द्वारा बनाये गये ढूह की तरह होती है। इस प्रकार का ढूहा उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में पाया जाता है। एमीटर्मिस मेरीडीयोनैलिस प्रजाति द्वारा बनाया गया ढूहा अत्यधिक आकर्षक होता है। इस दीमक का ढूहा उत्तर और दक्षिण दिशाओं की तरफ बना होता है जिससे कि कम से कम ढूहे का भाग सूर्य की किरणों द्वारा प्रभावित हो सके और अन्दर का तापक्रम स्थिर बना रहे। ये ढूहे लगभग 2.5 मीटर ऊंचे और 2-3 मीटर लम्बे उत्तर-दक्षिण दिशा में, तथा पूरब-पश्चिम में लगभग $\frac{1}{2}$ मीटर चौड़े होते हैं। इस प्रकार इन्हें कुतुबनुमा ढूहा (कम्पास-माउन्ड) कहते हैं। वे उत्तरी आस्ट्रेलिया के खुले क्षेत्रों में बहुत अधिक संख्या में पाये जाते हैं। एमीटर्मिस एक्सेलेंस प्रजाति की दीमक द्वारा वृक्षों के तनों पर बनाये गये घर वर्षा से अप्रभावित (रेन प्रूफ) होते हैं। ऐसे दीमक दक्षिणी अमेरिका में पाये जाते हैं। कांगो के बरसाती जंगलों में पायी जाने वाली क्यूबीटर्मिस संकुरेन्सिस प्रजाति की दीमक द्वारा बनाये गये छाते की तरह घर (मशरूम नेस्ट) दीमक की शिल्प-कला के अन्य उदाहरण हैं। इस तरह दीमकें प्राकृतिक दशाओं के अनुकूल अपने घर बनाती हैं।

दक्षिणी भारत में वृक्षों पर फुटबाल की तरह घर बनाने वाली दीमक पायी जाती हैं। ऐसे घरों को कॉर्टन नेस्ट कहते हैं। ये घर कोशिकामय (सेल्यूलर) होते है और छत्ते की तरह लिगनिन, सेल्यूलोज और शाकीय पदार्थ (वेजिटेबिल मैटर) के बने होते हैं। वे वृक्षों की शाखाओं या दो शाखाओं के बीच में, या वृक्ष के नष्ट हुए

हिस्सों पर बनाये जाते हैं, और कुछ तो शाखाओं से लटकते हुए दिखाई देते हैं। ये घर नीचे जमीन से मिट्टी की नलियों से मिले होते हैं जिसमें से दीमकें अपने भोजन की खोज में जाती हैं। **नैसुटीटर्मिस इन्डीकोला** दक्षिणी भारत की ऐसे ही घर बनाने वाली दीमक है। इसके द्वारा बनाये हुये घर **क्रीमैटोगैस्टर** चींटियों के घरों से मिलते जुलते हैं। **माइक्रोसेरोटर्मिस** जाति की दीमक भी ऐसे घर बनाती है जो वृक्षों के कटे हुये भाग या ठूठे तथा नष्ट हुये भाग या लकड़ी के स्तम्भों पर बने होते है। इन घरों में रानी-दीमक के रहने वाला कोष्ठ कुछ मोटी दीवारों का बना होता है जिसमें वह बड़े शान से अंडे देती है। रानी दीमक इतने अधिक अंडे देने वाली होती है कि छोटे छोटे घरों में श्रमिक और सैनिक दीमकों की संख्या कई लाखों में हो जाती है।

—o—

प्राणि-जगत, 1 : 43—46 (1980)

मानव समाज और पक्षी

जयप्रकाश नारायण शुक्ल
भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

इस संसार में अनेक प्रकार के जीव-जन्तु पाये जाते हैं जिनके रहन-सहन तथा स्वभाव में अन्तर है। कुछ पृथ्वी पर निवास करते हैं, कुछ जल में पाये जाते हैं और कुछ वायुमण्डल में विचरण करते हैं। प्रकृति ने सभी प्राणियों को जीवन यापन करने के लिये उपयुक्त अंग प्रदान किया है जिसके अनुसार प्राणियों को कई श्रेणियों में विभाजित किया गया है।

इन विभिन्न श्रेणियों के प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ समुदाय मानव जाति का है जो अनादि काल से अन्य सभी प्राणियों पर शासन करती चली आ रही है। वायुमण्डल में उड़ने वाले प्राणियों में पक्षियों का साम्राज्य है।

मनुष्य का सम्बन्ध जमीन पर रहनेवाले छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों जैसे सिल्क या रेशम का कीड़ा, तथा बड़े-बड़े जानवरों जैसे गाय, बैल और कुत्तों से है, उसी प्रकार जल में रहनेवाली मछलियों से भी है। इतना ही नहीं आकाश में उड़नेवाले पक्षियों से भी मनुष्य का गहरा सम्बन्ध है। ये पक्षी मानव-जाति के लिये अनेक दृष्टिकोण से उपयोगी हैं।

हमारी पौराणिक लोक-कथायें इन पक्षियों की कहानियों से भरी पड़ी हैं। रामचरित मानस में तुलसीदास ने लिखा है कि "गिद्धराज सुनि आरत बानी" अर्थात् जब रावण सीता जी का अपहरण करके ले जा रहा था तो सीता को मुक्ति दिलाने के लिये जटायु नामक एक गिद्ध-पक्षी ने सीता की आर्त पुकार सुनी। रामायण में ही काग-भुसुंडि और गरुण के सम्वाद का वर्णन मिलता है जो दोनों पक्षी थे। हिन्दू धर्म की देवियाँ जैसे सरस्वती का वाहन हंस और लक्ष्मी के वाहन उल्लू बताए जाते हैं। इनके अतिरिक्त नल और दमयन्ती की कथा में भी हंस पक्षी का महत्वपूर्ण उल्लेख हुआ है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि अन्य बड़े जानवरों की तरह पक्षी भी मानव समाज के लिये लाभप्रद हैं और हमारी आर्थिक प्रगति में सहायक हैं। इस प्रकार कुछ पक्षियों के उपयोगों का संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

पक्षी कई विधियों से मानव-समाज के लिये उपयोगी हैं। रंग-विरंगे पक्षी जैसे मोर, तोता, नीलकंठ इत्यादि के पंख सजावट के लिये एवं व्यापारिक दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण हैं। सुन्दर रंगीन पंखों द्वारा घर सजाया जाता है तथा इन्हें सिर की टोपियों में भी लगाया जाता है। विदेशों में रंग-विरंगे पक्षी के पंखों से सुन्दर मुकुटों की कलंगी बनायी जाती है। दक्षिण भारत, मुख्यतया केरल और कर्नाटक की कुछ जातियाँ इसे अपने पहनने के वस्त्रों में सजाने के लिये प्रयोग करती हैं। बिहार की सन्थाल जाति आज भी कबूतर, बत्तख और मोर के पंखों को घर तथा वस्त्र सजाने के अतिरिक्त आभूषण के रूप में प्रयोग करती है। सुनहले गरुण पक्षी का पंख केवल विशेष

धार्मिक उत्सव पर ही सजाने के काम में लाया जाता है। कुछ देशों में मुर्गे तथा शुतुर-मुर्ग पक्षी के पंख भी आभूषण की तरह प्रयोग किये जाते हैं। कहीं-कहीं तो पक्षियों के नीचे वाले छोटे-छोटे पंखों को गद्दे तथा तकिये में भरा जाता है। इन्हीं पंखों के द्वारा धूल छाड़ने वाला झाड़न या डस्टर भी बनाया जाता है। बैडमिंटन खेल की शटिल्स (चिड़िया) भी मुर्गे तथा बत्तख के पंखों से बनाई जाती है। मुगल-काल में बड़े-बड़े पक्षी जैसे चील, गिद्ध और मोर इत्यादि के पंख लिखने के लिये कलम की तरह प्रयोग किये जाते थे।

औषधि के क्षेत्र में भी ये पक्षी बहुत महत्व रखते हैं। पक्षियों के पंखों तथा पेशियों को कुछ आयुर्वेदिक एवं यूनानी औषधियों में प्रयोग किया जाता है। मुर्गी के अंडे मानव समाज में एक मुख्य खाद्य पदार्थ हैं और उनसे अनेक प्रकार की मिठाइयाँ, केक, टॉफी तथा पैस्ट्रीज इत्यादि बनाते हैं। आज स्वास्थ्यप्रद टॉनिकों में भी मुर्गी तथा बत्तख के अंडे प्रयोग किये जाते हैं। प्रयोगशाला में प्रयोग करने के लिये कवक, वाइरस, जीवाणु एवं कृमियों की उत्पत्ति (कलचर) बनाने में मुर्गी के अंडों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि इसमें भोजन के सभी आवश्यक तत्व उपस्थित रहते हैं। लकवा (पैरेलाइसिस) के रोगी को औषधि के रूप में कबूतर का मांस खाने के लिए कहा जाता है। यूनानी चिकित्सा पद्धति के अनुसार राज्यक्षमा (टी० बी०) के रोगी को कबूतरों के सम्पर्क में रहने की सलाह दी जाती है।

खाद्य सामग्री के रूप में आज पक्षियों का बहुत प्रयोग हो रहा है। इनका मांस विशेष रूप से स्वादिष्ट खाद्य सामग्री समझा जाता है। मुर्गी, बत्तख, हंस, कबूतर और और समुद्री किनारों पर रहने वाले पक्षी खाने के लिये विशेष उल्लेखनीय हैं। पालतू मुर्गा आज का विशेष सराहनीय खाद्य पदार्थ समझा जाता है। मुर्गी के अंडों को तो आजकल प्रायः शाकाहार की तरह साधारणतौर पर बहुत लोग खाने लगे हैं। मनुष्य ही नहीं बल्कि अन्य स्तनधारी प्राणी तथा सरीसृप वर्ग के प्राणी भी पक्षियोंके अंडों का भक्षण करते हैं।

पक्षी किसानों की विशेष सहायता करते हैं। छोटे-छोटे पक्षी जैसे गौरैया, फुदुकी इत्यादि जो झाड़ियों, चरागाहों या फसलों वाले खेतों में रहते हैं और पौधों के फूलों में परागण (पौलिनेशन) कराते हैं जिससे पौधों में बीज बनते हैं। कुछ पौधों के तो फूल ही रूपान्तरित होकर ऐसा बन जाते हैं कि पक्षी बड़ी आसानी से उन फूलों पर बैठकर परागण क्रिया सम्पन्न कर सकें। फल खाने वाले पक्षी तो एक पौधे के बीज को ले जाकर दूसरी जगह गिरा देते हैं जिससे पौधों के सदस्य नये स्थान में फैलते हैं। इस प्रकार ये बीजों के विसरण या छितराने (डिस्पर्सल) में भी सहायता करते हैं। पक्षियों द्वारा छोड़े गये मल पदार्थ में नाइट्रोजन, फास्फेट, कैलसियम और लोहे की अधिकता होती है, जिससे इसके द्वारा अच्छी किस्म का उर्वरक बनाया जाता है।

बगुला, पेंडुकी और कौवा इत्यादि पक्षी पौधों या फसलवाले खेतों से हानिकारक कीड़ों-मकोड़ों, लार्वा या कृमियों को खा जाते हैं। इतना ही नहीं गिद्ध और चील जैसे

बड़े पक्षी तो हमारी फसलों को अधिक हानि पहुँचाने वाले छोटे स्तनपायी जन्तुओं जैसे चूहे और गिलहरी को ही पकड़कर खा लेते हैं जिससे फसल की सुरक्षा हो जाती है।

पक्षी स्वास्थ्य रक्षक के रूप में भी कार्य करते हैं। इनके द्वारा वास स्थानों तथा वातावरण की सफाई की जाती है। गिद्ध, चील, बाज और कौवा इत्यादि पक्षी मरे हुए जानवरों की लाशें तथा अन्य सड़े-गले पदार्थों का भक्षण न करते तो सम्भवतः चारों तरफ अनेक बीमारियां फैल जातीं। यह कहना गलत नहीं होगा कि ये पक्षी सफाई का महत्वपूर्ण कार्य करते हुए हम लोगों के लिए चिकित्सक का भी कार्य करते हैं।

आश्चर्यजनक बात यह है कि कुछ पक्षियों का घोंसला भी चीन देश में भोजन के रूप में प्रयोग किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि कुछ पक्षियों के लार के स्राव से से ही उनका घोंसला बनता है, जो टॉनिक की तरह पौष्टिक होता है अतः स्वास्थ्य ठीक करने के लिए उन्हें ग्रहण किया जाता है। बत्तख, सारस, बटेर, तीतर, चकोर और कबूतर इत्यादि पक्षियों को क्रीड़ा-पक्षी (गेम बर्ड) कहा जाता है। बहुत लोग इन्हें पालकर तथा एक दूसरे से लड़ाई कराके मनोरंजन किया करते हैं। बुलबुल, कनैरी ओर कोयल पक्षी मधुर और सुरीली आवाज में गीत गाकर अनायास ही लोगों का ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं, अतएव बहुत लोग इन पक्षियों को पालते हैं। तोता, मैना इत्यादि पक्षी बतायी जानेवाली बातों को दुहराकर मनोरंजन किया करते हैं। तोता को तो धार्मिक पक्षी कहा जाता है जिससे बहुत से लोग उसे पालकर धर्म सम्बन्धी शुभ वाक्य सिखलाते हैं और वह शुभ वाक्यों को बोलकर प्रसन्न रखता है। जंगलों में नाचता हुआ मोर सहज में ही अपने लम्बे सुनहले रंग वाले पंखों से लोगों को आकर्षित कर लेता है। इसके सुन्दर पंख को 'भगवान श्री कृष्ण' अपने मुकुट में धारण करते थे अस्तु इसे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है और बहुत लोग पालते भी हैं।

मोर और गरुण पक्षी सर्प और बिच्छू जैसे जहरीले जानवरों को मार डालते हैं, अतः इन पक्षियों को अपने आसपास रखकर विषैले जन्तुओं से बचा जा सकता है। बहुत से लोग शिकारी पक्षियों को इसलिये पालते हैं कि वह उन्हें खतरे का संकेत देता है जिससे शिकारी अपने को सुरक्षित कर लेता है। प्राचीनकाल में कबूतरों को संदेश वाहक बनाया जाता था और उन्हें ऐसा प्रशिक्षण दिया जाता था कि वे अपने पैरों में बंधे पत्र को ले जाकर अभीष्ट स्थान पर पहुँचा देते थे और उस स्थान का व्यक्ति पत्र पैर में से खोलकर संदेश प्राप्त कर लेता था।

पक्षी मानव समाज के लिये कुछ क्षेत्रों में हानिकारक भी हैं। फसलों को ये कई विधियों से हानि पहुँचाते हैं। कबूतर, कौवा, गौरैया तथा तोता इत्यादि पक्षी खेतों में बोये गये बीजों को खुला देखकर तुरन्त चुग लेते हैं तथा कुछ पौधों की पत्तियों को खाकर नष्ट कर देते हैं। इतना ही नहीं, ये अनेक पौधों के फूलों और फलों में छेद कर देते हैं जिससे पौधे का फूल या फल पूर्णतः नष्ट हो जाता है और फसल को हानि पहुँचती है। आस्ट्रेलिया में गौरैया पक्षी को फसलों का बहुत बड़ा शत्रु कहा जाता है। तोता, कोयल और कौवा इत्यादि पक्षी पेड़ों में लगे कच्चे तथा पक्के दोनों प्रकार के

फलों को नष्ट कर देते हैं। कुछ पक्षी फसलों को लाभ पहुंचाने वाले कीड़ों और कृमियों को ही खा जाते हैं।

बाज, गिद्ध और चील इत्यादि पक्षी मुर्गियों पर हमला करते हैं और बहुत को मारकर हानि पहुँचाया करते हैं। इतना ही नहीं ये बटेर, तीतर और कबूतर इत्यादि क्रीड़ा पक्षियों पर भी हमला करके मार डालते हैं। बत्तख, पनडुब्बी, और शुतुरमुर्ग पक्षी मछलियों को तालाब में मारकर मछली उद्योग को प्रभावित करते हैं। पक्षी बीमारियों को भी फैलाते हैं। वे हानिकारक कीड़े, लार्वे तथा जीवाणुओं को अपने साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचा देते हैं जिससे बड़ी आसानी से बीमारी फैल जाती है। ये पक्षी शहद उद्योग को भी बहुत क्षति पहुंचाते हैं, क्योंकि मधुमक्खियों और उनके द्वारा बनाये गए छत्तों को खा लेना इनका सहज स्वभाव है।

मानव तथा पक्षियों के पारस्परिक सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए इनका पालन कुटीर-उद्योग की स्थापना में तथा बेकारी की समस्या को दूर करने में सहायक हो सकता है। इस दिशा में प्रयत्न करने से न केवल व्यक्ति विशेष को लाभ होगा, अपितु राष्ट्र की खाद्य समस्या भी दूर होगी, जिससे देश को सर्वांग प्रगति में सहायता मिलेगी।

—०—

प्राणि-जगत, 1 : 47—51 (1980)

सर्पों की दुनिया

ध्रुव नारायण तिवारी
भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

आदि-काल से ही हमारे देश में सर्पों की पूजा होती है। श्रावण-शुक्ल पंचमी जिसको नागपंचमी पर्व के नाम से कहा जाता है, आज भी हम उल्लास पूर्वक मनाते हैं। हिन्दू धर्म के शास्त्रों और पुराणों में भी सर्प और सर्पदंश का विवरण मिलता है। भगवान शिव के गले के नागराज तथा भगवान विष्णु की शेषनाग-शय्या इसके प्रमाण हैं। राजा परीक्षित जिनको सर्प द्वारा डसे जाने का श्राप था, अपने अनेक उपायों से भी नहीं बच पाये। सती सावित्री के पति सत्यवान एवं राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु कालकूट नाग के काटने से ही हुई थी। इस प्रकार सर्पों का विवरण सत्ययुग, द्वापरयुग और त्रेतायुग में भी मिलता है। वर्तमान समय में संसार में करीब 2500 सर्पों की जातियां ज्ञात हैं। अनेक घटनाओं में सर्प दंशित व्यक्ति को पानी तक पीने का समय नहीं मिल पाता। किन्तु प्रत्येक सर्प उतना भयंकर और मृत्युवाही नहीं होता जितना उसे माना जाता है। आजकल सर्प विष से बने एन्टीवेनीन इंजेक्शन सर्पदंशित व्यक्ति को उचित समय पर लगाने से विष का असर समाप्त किया जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि सर्प जितना प्राणलेवा होता है उतना ही संजीवनी का भी काम करता है।

सर्प एवं उनकी जातियां :—इसका शरीर रस्सी के समान होता है। सिर का भाग मोटा तथा पूंछ पतली होती है। सर्प के पैर नहीं होते। उनके बदले इनके शरीर पर शल्कें (स्केल) होती हैं जिनकी सहायता से ये चलते फिरते हैं। सर्प का शरीर 200-400 कशेरुकाओं के संयोग से बना होता है। यही कारण है कि सर्पों को टेढ़ा चलने में कठिनाई नहीं होती है। अधिकांश सर्पों के फण होते हैं। फण को यह इच्छानुसार सिकोड़ व फैला सकता है। यह चूहा, मेढक, मछली, छोटे-छोटे पक्षियों और कीड़ों को खाता है। सर्प अंडज प्राणी है। इसका रक्त असमतापी होता है। भारत वर्ष में सर्पों की 216 जातियाँ पाई जाती हैं। ये सभी विषैली नहीं होती हैं। उनमें से केवल 52 जातियों ही विषधर हैं। सर्प स्थलीय, मृदुजलीय और समुद्री जन्तु होते हैं। कुछ मुख्य सपों के वैज्ञानिक तथा स्थानीय नाम नीचे दिये गए हैं :

वैज्ञानिक नाम	स्थानीय नाम
टिफलाप्स ब्रमाइनस (क्यूवियर)	हिन्दी : अंधा साँप बंगला : टेलिंगा
पाइथान मालूरस (लीनियस)	हिन्दी : अजगर बंगला : अजगर
एरिक्स कोनीकस (स्नाइडर)	हिन्दी : दोमुंहा साँप (वास्तव में इसके दो मुंह नहीं होते)

टायाम म्यूकोसस (लीनियस)	हिन्दी : धामिन
	बंगला : धामन
लाइकोडॉन आँलिकम (लीनियस)	हिन्दी : उल्फ सांप
नैट्रिक्स पिस्केटर (स्नाइडर)	हिन्दी : डोड़हा
	बंगला : ढूढा
नैट्रिक्स स्टोलेटा (लीनियस)	हिन्दी : वमना
ड्रायोफिस प्रमाइनस (वोई)	हिन्दी : हरा साँप
	बंगला : लाउडोंगा
बंगैरस सेरुलियम (स्नाइडर)	हिन्दी : करैत
	बंगला : केले
बंगैरस फैसिएटस (स्नाइडर)	हिन्दी : धारीदार करैत
नाजा नाजा (लीनियस)	हिन्दी : गेंहुअन, नाग
	बंगला : गोखुरा
नाजा हनाह (कैन्टार)	हिन्दी : नागराज
इनहाइड्राइन मिस्टोमा (डाडिन)	हिन्दी : समुद्री सांप
	बंगला : मेटे
वाइपेरा रसेलाई रसेलाई (शॉ)	हिन्दी : चित्तीदार साँप
	बंगला : चन्द्रोपोड़ा
एनसिस्ट्रोडान हिमालयनस (गुन्थर)	बंगला : पोड़ा

सर्पदंश-विधि :—सर्प-विष उनके तालू में स्थित विष-ग्रन्थियों में भरा होता है। काटने पर सर्प अपने विषदन्तों (फैंग्स) को शिकार के मांस में चुभाने के साथ विष भी उड़ेल देता है। यह विष रक्त में मिलकर शरीर में फैल जाता है और शिकार की मृत्यु हो जाती है। कुछ सर्पों में विष की प्राणघातक मात्रा का न्यूनाधिक संभावित औसत इस प्रकार है :—

नाजा (कोबरा)-317 मि० ग्रा०, रसेल वाइपर-108 मि० ग्रा० और एनसिस्ट्रोडान-55 मि० ग्रा०।

सर्पदंश के लक्षण और मृत्यु संख्या :—नाग, करैत तथा चित्तीदार सांप (वाइपर) इन तीनों का विष बड़ा ही भयावह होता है। दंशित स्थान पर बीच में दो विषदंतों तथा उसके चारों तरफ खाने वाले दंतों का गोलाकार चिन्ह उभड़ आता है। विषदंतों के स्थान से रक्त प्रवाह अन्य खाने वाले दंतों की अपेक्षा ज्यादा होने लगता है। दंशित व्यक्ति का चेहरा लाल हो जाता है, मुंह से झाग निकलने लगता है और मनुष्य बेहोश हो जाता है। यदि सर्प दंतों के निशान नहीं दिखाई पड़ते है तो उसे नीम को पत्ती चबाने के लिये देनी चाहिए। ऐसा माना जाता है कि यदि सर्प वास्तव में डसा होगा तो उसे नीम की पत्ती कड़वी नहीं मालूम होगी।

सर्प-विष न्यूरोटॉक्सिक और हेमोटॉक्सिक होता है। नाग (कोबरा) का विष न्यूरोटॉक्सिक तथा करैत का हेमोटाक्सिक होता है। न्यूरोटॉक्सिक विष तंत्रिकातंत्र को

प्रभावित करता है जिसके फलस्वरूप दंशित व्यक्ति निद्रालु हो जाता है, आँखों की पलकें बंद हो जाती हैं, जी मिचलने लगता है और श्वसन क्रिया बन्द होने लगती है। हेमो-टांक्सिक विष का प्रभाव रक्त संचार पर होता है। रक्त वाहिकायें शरीर के अन्दर फट जाती हैं, जिससे दंशित व्यक्ति रक्तरंजित कै (उल्टी) और दस्त करने लगता है और नाड़ी बड़ी तेजी से चलने लगती है। सर्प दंश का प्रभाव दंशित व्यक्ति के अच्छे हो जाने के कुछ काल बाद दुबारा भी हो जाता है जिससे लकवा की बीमारी हो जाती है। दंशित व्यक्ति के शरीर के विभिन्न अंग सड़ने लगते हैं। शरीर में घाव हो सकते हैं जिससे विभिन्न अंग बेडौल हो जाते हैं।

विष-धर सर्पों के दंश से हमारे देश में प्रतिवर्ष हजारों व्यक्तियों को असमय ही कालकवलित होना पड़ता है। योसियो सवाई तथा होनमा नामक लेखकों द्वारा 1975 में प्रकाशित भारत-वर्ष के विभिन्न राज्यों में सर्पदंश से मृत्यु के उपलब्ध आंकड़े निम्न प्रकार हैं :—

राज्य	वर्ष	मृत्यु संख्या
आन्ध्र प्रदेश	1969	23
असम	1970	9
बिहार	1969	21
गुजरात	1969	62
हरियाणा	1969	8
हिमाचल प्रदेश	1969	15
जम्मू और काश्मीर	1969	33
केरल	1969	97
मध्यप्रदेश	1970	69
महाराष्ट्र	1969	100
कर्णाटक	1970	45
नागालैंड	1969	1
उड़ीसा	1970	31
पंजाब	1967	16
राजस्थान	1968	62
उत्तर प्रदेश	1969	68
त्रिपुरा	1963	3
पश्चिम बंगाल	1971	224
दिल्ली	1969	4
गोआ, दमन और द्यू	1967	4

प्राथमिक चिकित्सा एवं औषधियाँ :—सर्प के दंश स्थान को चाकू से थोड़ा चीर देना चाहिए और उससे थोड़ा रक्त बह भी जाय तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह रक्त विषाक्त रहता है। घाव के थोड़ा उपर एक पट्टी कस कर

बाँध देनी चाहिए जिससे विषैला रक्त पूरे शरीर के रक्त को विषाक्त न कर दे। डाक्टरी चिकित्सा की सहायता तुरन्त लेनी चाहिए और उनकी देख रेख में घायल अंग को गर्म जल से खूब धोना चाहिए और घाव में शुद्ध कार्बोलिक ऐसिड अथवा पोटैसियम परमैगनेट का मिश्रण भर देना चाहिए। इस बात की भी सावधानी रखनी चाहिए कि सर्पदंशित व्यक्ति चेतनाहीन न होने पाए। साथ ही उसके सामने आतंक और घबड़ाहाट भी प्रगट नहीं करनी चाहिए। औषधियों में आजकल एन्टीवेनीन इन्जेक्शन उपलब्ध हैं। एन्टीवेनीन बहुत हद तक सफल भी है, बशर्ते इसका उचित समय पर प्रयोग किया जाए। इस इन्जेक्शन को यदि सर्पदंश के बाद तुरन्त लिया जाय तो बहुत ही उपयोगी होगा।

सर्पों के उपयोग :—हमारे देश में मद्रास में एक सर्पोद्यान है, जहां पर सर्पो का विष निकाल कर उसका सदुपयोग किया जाता है। उनका मुंह विशेष यंत्रों की सहायता से चौड़ा किया जाता है और विष थैली में नली लगाकर विष निकाल लिया जाता है। हाफकिन्स इन्स्टीट्यूट बम्बई और कसौली सेन्ट्रल लेबोरेटरीज में एन्टीवेनीन के उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। ये संस्थाएं एन्टीवेनीन तैयार कर सर्पदंश से छुटकारा दिलाने में प्रयोगरत हैं। सर्पों में पाये जाने वाले विष रसायन बड़े बहुमूल्य और उपयोगी होते हैं। इनमें न्यूरोटॉक्सिन, हाल्यूरोनाइटेज, राइबोन्यूक्लिएज और न्यूक्लियाटाइज आदि रसायन हैं। एलोपैथी तथा होमिओपैथी में सर्प विष से निर्मित औषधियां कैंसर, क्षय, कोढ़, ल्यूकोडर्मा, सिफलिस, इलाप्स और एपिस रोगों में प्रयुक्त की जाती हैं। होमियोपैथी में सर्पविष से मृगी, एपीलेप्सी, दमा, न्यूरैल्जिया, न्यूराइटिस, लम्बैगो, साइटिका और अनिद्रा इत्यादि रोगों का भी निदान होता है। जापानी चिकित्सापद्धति में सर्प चूर्ण तपेदिक और गठिया रोग की दवा मानी गई है। समाचारों के अनुसार वहाँ बहुत से लोग सर्प चूर्ण बनाने के व्यवसाय में लगे हैं। उन्हें तन्दूर पर सुखा कर कड़ा किया जाता है और फिर कूटकर चूर्ण बना दिया जाता है।

सर्पों के चमड़ों से विभिन्न प्रकार के बहुमूल्य जूते, बेल्ट और टाइयां तैयार किये जाते हैं। पिछले कुछ वर्षो में सर्पों के चमड़े से बनी चीजों के व्यापार तथा विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिये इनको मारा गया है जिससे देश में सर्पो की संख्या बहुत ही कम हो गई है। इस समस्या के समाधान स्वरूप अब सर्पों से बनी चीजों के उत्पादन तथा निर्यात पर भारत सरकार द्वारा रोक लगा दी गई है। वन्यप्राणी के रूप में इनका संरक्षण किया जाता है। बहुत से प्राणि उद्यानों में सर्पो की विभिन्न जातियों को जनता के मनोरंजनार्थ रखा गया है। शिकारियों और सपेरों के जीविकोपार्जन का यह एक अच्छा खासा धन्धा है। सपेरे सर्पों को बीन बजाकर विभिन्न प्रकार के खेल तमाशे दिखाकर अपना भरण पोषण करते हैं।

अजगर और धामिन सर्पों का मांस थाइलैंड, चीन, वियतनाम आदि देशों में खाने के काम में लाया जाता हैं। ऐसी धारणा है कि इन सर्पो का मांस सफेद तथा स्वाद में मुर्गे के मांस की भांति लगता है।

सर्प हमारी फसलों के रक्षक भी है। वे फसलों को हानि पहुचाने-वाले चूहे, कीड़े मकोड़े आदि खाकर हमारी सहायता करते हैं।

सन्दर्भ

सचेतक, 12 सितम्बर, 1976. विषधर विष निवारक भी। सन्मार्ग, कलकत्ता से प्रकाशित।

स्मिथ, एम० ए० 1943. फौना आफ ब्रिटिश इन्डिया-एम्फीबिया एन्ड रेप्टीलिया, भाग 3, लन्दन से प्रकाशित।

योसियो सवाई और होनमा 1975. स्नेक बाइट इन इन्डिया। दी स्नेक, भाग 7 : 1-16।

—००—

प्राणि-जगत, 1 : 53-55 (1980)

प्रागैतिहासिक जीव जन्तु और उनका विकास

—ज्ञानेन्द्र कुमार श्रीवास्तव

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

प्रागैतिहासिक जीव जन्तुओं से तात्पर्य उन जीव धारियों से है जो प्राचीन काल में पृथ्वी पर विचरण करते थे परन्तु अब किन्हीं कारणों से या तो लुप्त हो गये हैं या उनका वर्तमान रूप काफी परिवर्तित हो गया है। अब प्रश्न उठता है कि जो जन्तु लुप्त हो गये हैं उनका ज्ञान हमें कैसे प्राप्त हुआ ? इसका उत्तर हमें उन जीवाश्मों द्वारा मिलता है जो पृथ्वी के गर्भ में मौजूद थे। ये जीवाश्म चट्टानों में अंकित प्राचीन प्राणियों के चिन्हों के रूप में या तेल, गोंद और अन्य भू-पदार्थों में सुरक्षित प्राणि अवशेषों के रूप में पाये जाते हैं। इनके अध्ययन को पुरा प्राणि विज्ञान (पेलियोजूलौजी) कहते हैं। दुर्भाग्यवश इनका ज्ञान बहुत ही अपूर्ण एवं इखरा बिखरा है। क्योंकि उन असंख्य जातियों में से जो पृथ्वी पर प्रागैतिहासिक काल में मौजूद थीं केवल कुछ एक के ही जीवाश्म प्राप्त हो सके हैं। इसके मुख्य कारण हैं, इनको खोज निकालने हेतु मनुष्य की शक्ति, धन तथा समय की सीमाऐं, तथा कुछ जन्तुओ में बाह्य या आन्तरिक कंकाल की अनुपस्थिति जिससे कि उनके प्रमाण-चिन्ह चट्टानों पर अंकित न हो सके।

जीवाश्मों के अध्ययन से इस ग्रह पर पाये जाने वाले जीव धारियों का विवरण प्राप्त होता है। सबसे पहले समुद्री जेली मछली नामक जन्तु के जीवाश्मों का लेखा जोखा मिलता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनकी शारीरिक रचना पूर्ण एवं उच्च स्तर की थी जो अपने वातावरण के अनुकूल थी। इसके बाद, आज से प्रायः 425 लाख वर्ष पहले की चट्टानों में अन्य जीवों के चिन्ह प्रगट हुए जो मोटे तौर पर एक मछली से मिलते जुलते थे और इनमें अन्तः कंकाल और शरीर पर शल्क (स्केल) मौजूद थे। इनमें जबड़े नहीं थे। ये अपना भोजन समुद्री धरातल से प्राप्त करते थे। इसके उपरांत जैसे-जैसे समय गुजरता गया पुराने जन्तुओं का स्थान नये जीवों ने ले लिया, जैसे कि जबड़े वाली मछलियां। ये अब अपना भोजन समुद्री धरातल से ही नहीं वरन् किसी भी स्तर से प्राप्त करने में समर्थ थीं। ये मछलियां अपने अन्य साथियों के मुकाबले जीवन संघर्ष में अधिक सफल सिद्ध हुईं। इस प्रकार इनकी संख्या धीरे धीरे बढ़ती गई क्योंकि ये अपने मजबूत जबड़ों द्वारा अधिक मात्रा में भोजन प्राप्त कर सकती थीं और नये स्थानों पर आ जा सकती थीं। इस प्रकार इन्होंने प्राचीन बिना जबड़ों वाली प्लेकोडर्म और एकेन्थोडर्म नामक मछलियों के स्थान ले लिये। इन नई मछलियों में जोड़ीदार फनों (फिन) का विकास हुआ जिनकी सहायता से वे अपना शरीर इधर उधर हिला सकती थीं। इस तरह की मछलियां अन्त में सारे समुद्र में छा गईं। परन्तु इन सबसे भिन्न एक मछली का आगमन लगभग 390 लाख साल पहले हुआ जो अपने सिर के आगे की अस्थियों को आसानी से गिरा-उठा सकती थी। यह एक लाभ दायक प्राप्ति थी। इससे यह मुख को बन्द करते समय लगने वाले झटकों को सरलता

से झेल सकती थी। इन अनोखी मछलियों को क्रोसोप्टैरीयिजन्स कहते हैं। इनमें गल-फड़ों के आलावा फेफड़ों का भी विकास हुआ।

ऐसा विश्वास है कि लगभग 365 लाख वर्ष पहले इनमें से कुछ ने जल से थल में आने का प्रयास किया होगा। ऐसा हो सकता है कि गर्मियों में या सूखा पड़ने पर इन्हें एक तालाब से दूसरे अधिक जल वाले तालाब में जाने के लिये थल से गुजरना पड़ा होगा। संभावना यह है कि इन्हीं की बाद वाली संतानों ने अधिक समय तक थल में रह कर श्वास लेने की क्षमता प्राप्त कर ली होगी।

इसके उपरांत कुछ ऐसे जन्तुओं के जीवाश्म प्राप्त हुए जिनकी पूंछ मछलियों जैसी थी। इनमें फेफड़े एवं चलने वाले पैर भी मौजूद थे। ये शायद थल पर अपना भोजन प्राप्त करने के लिये आते थे क्योंकि थल पर अन्य प्राणियों के न होने से भोजन की बहुतायत थी और जीवन-संघर्ष भी नहीं के बराबर था। इन्हीं से उभयचर (एम्फी-बिया) वर्ग के प्राणियों जैसे मेढक इत्यादि का विकास हुआ।

उभयचर वर्ग के सदस्य वयस्क अवस्था में साधारणतः फेफड़ों से श्वास लेते हैं। ये अपनी त्वचा से जोकि चिकनी एवं गीली होती है, जल में श्वास लेने में भी समर्थ हैं। यह कहा जा सकता है कि ये जल एवं थल पर समान रूप से विचरण करने के उपयुक्त हैं। फिर भी इनकी अनेक आदिम जातियां पूर्ण रूप से जल में ही रहने वाली हैं। इनमें पुरातन काल में अपने नये वातावरण के अनुसार अनेक परिवर्तन आये पर ये जल से पूर्ण रूप से छुटकारा कभी न पा सके।

उभयचर जन्तुओं (एम्फीबियनस्) से ही सरी-सृपों या उरग (रेप्टायल) श्रेणी का विकास हुआ, जिसके सदस्य हैं छिपकली, कछुऐ इत्यादि जो वर्तमान काल में भी पाए जाते हैं। सरी-सृपों की आदिम जातियां बहुत कुछ उभयचर जैसी थीं। किन्तु विश्वास के साथ यह कहना कि वे इन दोनों में से किस श्रेणी के सदस्य हैं कठिन है। विकास क्रम में सरी-सृप ही प्रथम रीढ़वाले जन्तु थे जो जल को त्याग कर स्थल चर बने, या इस प्रकार कहा जा सकता है कि धरा पर केवल इनका ही साम्राज्य हो गया। समय के साथ-साथ इनमें अनेक परिवर्तन आये। कुछ अपने पूर्वजों के समान वापस जल में वास करने लगे, परन्तु ऐसे सरीसृप श्वास फेफड़ों द्वारा ही लेते थे। इनके पैर सिफनों या पतवार के समान परिवर्तित हो गये। बहुत से प्राचीन समुद्री सरीसृप वर्तमान युग की व्हेल मछलों से भी मिलते जुलते हैं। इनके अलावा कुछ अन्य ने वायु में उड़ानें भरने का प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप उनके चमगादड़ों के समान पंख विकसित हो गये।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि पक्षियों का विकास उड़ने वाले सरीसृप रूपी पूर्वजों से ही हुआ। प्राचीन काल में पाए जाने वाली आर्कियोप्टेरिक्स नामक लुप्त चिड़िया के जीवाश्मों से ज्ञात होता है कि इसकी संरचना में सरीसृपों और पक्षियों दोनों का बहुत निकट का सम्बन्ध है। यह इन दोनों के बीच की योजक कड़ी है। यह एक पक्षी होते हुए भी इसमें सरीसृप वर्ग के बहुत से लक्षण पाये गए। आर्कियोप्टेरिक्स सम्भवतः कौवे के आकार की स्थलीय चिड़िया रही होगी।

पक्षियों के उद्भव के साथ या उनसे कुछ पूर्व जबकि सरीसृप अपने विकास के प्रथम चरण में ही थे, इनमें से कुछ एक जन्तुओं में विशिष्ट परिवर्तन प्रगट हुए। इनके पिछले पैर अपने दूसरे सरीसृप श्रेणी के सदस्यों के मुकाबले अधिक लम्बे एवं पतले हो गये। जिससे ये जन्तु आसानी से एक से दूसरे स्थानों पर आ जा सकते थे। इनका शरीर बालों से ढंका था और अपने पैरों को शरीर के नीचे मोड़ कर अपने पेट से चिपका सकते थे। शायद इन्हीं जन्तुओं से वर्तमान युग के स्तनपोषी जीवों का प्रादुर्भाव हुआ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जन्तुओं के क्रमिक विकास के फल स्वरूप यह धरा नाना प्रकार के अजीबगरीब जन्तुओं से भर गई। विकास एक प्राकृतिक क्रिया है, जो अनन्त काल से अपना कार्य कर रही है और करती कहेगी। इसको मानने में सभी वैज्ञानिक एकमत हैं।

—o—

प्राणि-जगत 1 : 57—62 (1980)

टिड्डियां और उनकी रोक-थाम

महेन्द्र सिंह शिशौदिया
भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

मनुष्य आदि काल से ही बीमारियों, बाढ़ और भूचाल जैसे प्राकृतिक प्रकोपों से ग्रसित रहा है। इनमें से कुछ की रोक-थाम के उपाय खोज निकाले गये हैं जबकि अन्य के लिये निरन्तर खोज चल रही है। प्राकृतिक शत्रुओं में सबसे अधिक हानिकारक कीट वर्ग के प्राणी हैं। इन कीटों में भी सबसे अधिक हानिकारक टिड्डी है जिसे अंग्रेजी में लोकस्ट कहते हैं। लेटिन भाषा में लोकस्ट का अर्थ है जला हुआ, अर्थात जहां भी टिड्डी का प्रकोप होता है वहां की फसलें ऐसी जान पड़ती हैं मानो जला दी गई हों।

टिड्डी एक प्रकार का कीड़ा है जो आर्थाप्टेरा क्रम (आर्डर) के अक्रीडिडी वंश में आता है। इस वंश के सभी सदस्यों को हिन्दी में बोल-चाल की भाषा में अंख-फोड़वा कहते हैं। क्योंकि इनकी एन्टीनी छोटी होती हैं इसलिये इनको अंग्रेजी में शौर्ट होर्न ग्रासहौपर भी कहते हैं। अतः टिड्डी भी एक अंख-फोड़वा है। कुछ विशेष परिस्थितियों में इनकी संख्या अधिक बढ़ जाती है और इनका एक बहुत बड़ा दल बन जाता है। यह पूरी तरह ज्ञात नहीं है कि इनकी संख्या में यह वृद्धि किन परिस्थितियों में होती है। एक दल एक स्थान से दूसरे स्थान तक मौसम तथा हवा के अनुसार उड़ना शुरू कर देता है तथा जहां पर बैठ जाता है वहां की वनस्पतियों को खाकर पूर्णतः समाप्त कर देता है। अंख-फोड़वा की कुछ अन्य जातियां दल बनाकर नहीं रहती और टिड्डी की तुलना में बहुत कम हानि पहुंचाती हैं तथा एक स्थान से बहुत दूर तक भी नहीं जाती हैं।

टिड्डियों की नीचे लिखी हुई जातियां संसार के भिन्न-भिन्न भागों में पाई जाती हैं :—

1. माइग्रेटरी या प्रव्रजक टिड्डियाँ—लोकस्टा माइग्रेटोरिया लिनियस (काला सागर और केस्पीयन सागर के क्षेत्र)
2. लाल टिड्डियां—नोमाडाक्रीस सेपटेमफेस्टीएटा (सर्वीले) (दक्षिण अफ्रीका)
3. भूरी टिड्डियां—लोकस्टाना पारडालीना (वाकर) (दक्षिण अफ्रीका, दक्षिण रोडेशिया)
4. मरुस्थलीय टिड्डियाँ—सिस्टोसरका ग्रीग्रेरिया (फोर्सकल) (अफ्रीका, अरब और भारतवर्ष)
5. ओरियन्टल माइग्रेटरी टिड्डियां—लोकस्टा माइग्रेटोरिया मानीलेन्सीस मेयेन (चीन और फिलिपाइन)

6. बाम्बे टिड्डियां—पतंगा सर्सिक्टा (जोहानसन) (दक्षिण-पूर्व एशिया और मलाया)
7. मोरोक्कन टिड्डियां—डोसियोसटोरस मारोक्केनस (थनवर्ग) (दक्षिण यूरोप—अर्थात, स्पेन, इटली, टर्की; उत्तरी अफ्रीका)
8. आस्ट्रेलियन प्लेग टिड्डियां—कोरोटोईसीटस टरमीनीफैरा (वाकर) (आस्ट्रेलिया)
9. इटेलियन टिड्डियां—केलिपटैमस इटेलिकस (लीनियस) (दक्षिण यूरोप—इटली और यूगोस्लाविया इत्यादि)
10. अमरीकन चट्टानी पहाड़ी टिड्डियां—मेलानोपलस स्प्रेक्टस (वालश०) (पश्चिमी संयुक्त राज्य अमरीका)
11. दक्षिण अमरीकन टिड्डियाँ—सिस्टोसरका केन्सीलेटा (सरवीले) (अर्जेन्टाइना, ब्राजील इत्यादि)

भारतवर्ष में टिड्डियों की तीन जातियां पाई जाती हैं। ये इस प्रकार हैं—बाम्बे टिड्डियां, माइग्रेटरी टिड्डियां तथा मरुस्थलीय टिड्डियां। बाम्बे टिड्डियां भारत के मध्य तथा पश्चिमी भाग में विशेषतः विनाशकारी रही हैं, यद्यपि यह अनुमान है कि सन् 1908 से पहले इनसे बहुत कम हानि होती थी। माइग्रेटरी टिड्डियां भारत के प्रत्येक भाग में अपने एकाकी रूप में मिलती हैं, तथापि पिछले वर्षों में इससे बहुत कम हानि पहुँची है। भारत में मरुस्थलीय टिड्डियां ही सबसे ज्यादा हानि पहुँचाती रही हैं। अतः भारत सरकार ने इसे प्रथम वर्ग के राष्ट्रीय हानिकारक कीट की संज्ञा दी है और इसको समाप्त करने का भरसक प्रयत्न कर रही है। इस लेख में अधिकतर इसी के बारे में प्रकाश डाला गया है।

मरुस्थलीय टिड्डियों की तीन दशाएं होती हैं—एकान्त जीवनयापी, समूह जीवन यापी तथा दोनों के मध्य जीवनयापी। डा० वी० पी० उवाराव ने अपना एक सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि टिड्डी की प्रत्येक जाति अपने दो रूपों में मिलती है जो रचना व जीव विद्या संबंधी सभी तरीकों से एक दूसरे से भिन्न होती है। इन्हें सामूहिक रूप और एकाकी रूप कहते हैं। इन रूपों में एक ही जाति की टिड्डियां एक दूसरे से इतनी भिन्न लगती हैं कि इन्हें कभी-कभी दो जाति का समझ लिया जाता था। इन दोनों रूपों के बीच एक और रूप होता है जिसे अस्थाई रूप कहते हैं जो एकाकी रूप से सामूहिक रूप बनते समय होता है।

एकाकी रूप में वयस्क होने से पूर्वावस्था (निम्फ) का रंग वातावरण के अनुसार कई प्रकार का होता है, जैसे हरा, भूरा और काला-भूरा; अर्थात जैसा रंग आस-पास के वास स्थान का हो। अपनी प्रोढ़ावस्था में इसका प्रोनोटम लंबा तथा कलंगीदार होता हैं जबकि इनकी पिछली टाँगें, अगले पंखों के मुकाबले में लंबी होती हैं।

सामूहिक रूप में इसके निम्फ का रंग खास तौर से काला और पीला अथवा नारंगी होता है। प्रौढ़ टिड्डी का प्रोनोटम छोटा व घोड़े की रकाब की तरह होता है। इसकी पिछली टांगे भी कुछ छोटी होती हैं। इसके अलावा सबसे अधिक खास बात है इसकी

तीव्र चंचलता या क्रियाशीलता और समूह में रहने की आदत। इसके निम्फ से ही इसके रूप का पता चल जाता है जब वह एक समुदाय में, दिन में गर्मी के समय एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते हैं। प्रौढ़ अवस्था में यह बहुत ज्यादा घने समूह में रहकर हवा के रुख के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान के लिये उड़ती रहती हैं और तब तक उड़ती रहती हैं जब तक इसके बैठने की अनुकूल अवस्थाएं न हो जाऐं (जैसे तापक्रम का कम हो जाना)। प्रयोगशाला में प्रयोगों से पता लगा है कि यदि निम्फ को अकेला पाला जाय तो वह एकाकी रूप में बड़ा होता है और यदि बहुत सारे निम्फ को एक साथ पाला जाय तो उनकी क्रियाशीलता बहुत ज्यादा बढ़ जाती है, उनके शरीर में काला रंग (पिगमेन्ट) पैदा हो जाता है और सामूहिक रूप के सभी लक्षण उसमें आ जाते हैं। अभी तक यह नहीं ज्ञात हुआ है कि किन-किन कारणों से निम्फ एकाकी से सामूहिक रूप में बदल जाते हैं। किन्तु एक विशेष बात देखी गई है कि यह रूप-परिवर्तन हमेशा कुछ विशेष स्थानों पर ही होता है जिन्हें "संक्रामक क्षेत्र" कहते हैं। इस क्षेत्र में एकाकी अथवा सामूहिक रूप की टिड्डियाँ एक निश्चित काल-चक्र में पैदा होती हैं। इस काल चक्र के अनुसार एक बृहद दल के समाप्त होने पर दूसरे निम्फ एकाकी रूप में पैदा होते हैं जो बाद में सामूहिक रूप को प्राप्त होकर बृहद समूह बना लेते हैं। बृहद समूह के बनने को "महामारी" कहते हैं, क्योंकि यह दल उड़कर दूसरे स्थानों को जाते हैं और वहाँ की फसल का इस तरह सफाया कर देते हैं जैसे कोई स्थान महामारी के कारण जन-शून्य हो जाता है।

भारतवर्ष में मरुस्थलीय टिड्डियां अधिकतर राजस्थान, पंजाब और गुजरात के रेतीले भागों में पाई जाती हैं। रेतीले क्षेत्र में यह अपना समय अगस्त मास तक बिताती हैं। सितम्बर मास के बाद पश्चिमी हवा के रुख के अनुसार पूर्व दिशा में पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल की तरफ उड़ने लगती हैं। कभी-कभी तो दक्षिण की तरफ भी चली जाती हैं। दिसम्बर-जनवरी मास तक यह क्रम चलता देखा गया है। इस उड़ान के समय कुछ तो चिड़ियों की शिकार बन जाती हैं और कुछ स्वयं मर जाती हैं, और जो बचती हैं वे पंजाब व उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों में अण्डा देना शुरू कर देती हैं। इसके अलावा जो टिड्डी दल उत्तरी-पूर्वी हवा से पश्चिम की तरफ पाकिस्तान ईरान व पूर्वी अरब देशों की तरफ जाते हैं, उन देशों में शीत-काल में अण्डा देना शुरू कर देती हैं। इन्हीं देशों में बसन्त-ऋतु में पैदा हुई नई सन्तति पश्चिमी हवा के साथ भारत के रेगिस्तान में वापस आ जाती है, जहाँ गर्मी में फिर अण्डा देना शुरू कर देती है। इस प्रकार गर्मी में भारत के मरुस्थलीय प्रदेश में, तथा बसन्त-ऋतु में मध्य एशियाई देशों में, अण्डे देने की तथा एक स्थान से दूसरे स्थान के परिव्रजन के चक्र की पुनरावृति एक निश्चित कालान्तर में होती रहती है।

टिड्डियों से बहुत हानि होती है, क्योंकि ये प्रत्येक प्रकार की वनस्पतियां, यहाँ तक कि पेड़ों की छालों को भी खा जाती हैं। अतः पिछले सालों में इसकी वजह से कुछ देशों में भुखमरी फैल गई थी। इसके सम्पूर्ण जीवन से जो हानि होती है उसका 8%

फतिंगा द्वारा, 58% अविकसित टिड्डी समूह द्वारा, 11% मिश्रित विकसित टिड्डी समूह और 23% विकसित टिड्डी समूह द्वारा क्षति होती है।

विश्व खाद्य संगठन द्वारा प्रकाशित प्रोग्रेस रिपोर्ट संख्या यू० एन० एस० एफ०/डी० एल०/टी० सी०/6, पृष्ठ संख्या/189-199 (1963) के कुछ आँकड़ों से पता चलता है कि 1925 से लेकर 1934 तक लगभग 10 करोड़ डालर मूल्य की फसल प्रत्येक साल नष्ट होती थी। सन् 1931 में अफ्रीका में मरुस्थलीय टिड्डियों ने 60 लाख पौंड कीमत की फसलों को नष्ट किया था और इनको रोकने के लिये जितने मजदूर नियुक्त किये गए वे एक छोटा बाँध बनाने के लिये पर्याप्त थे।

भारत में 1926-31 के चक्र में इनसे नष्ट फसल की कीमत 10 करोड़ रुपये के लगभग थी और 1949-55 के चक्र में 2 करोड़ रुपए थी।

1954 में केन्या में टिड्डियों के दल ने 500 वर्ग क्षेत्र को घेरा था जिसका संयुक्त वजन लगभग एक लाख टन के बराबर आंका गया था। उस दल ने 2,50,000 टन मक्का की फसल को नष्ट किया था।

1958 में इथोपिया के कुछ भागों में 30% मक्का, 50% गेहूँ और 90% ज्वार इत्यादि सभी को मिलाकर लगभग 1,67,000 टन अनाज का टिड्डियों द्वारा भक्षण किया गया, जो एक लाख मनुष्यों के लिये एक वर्ष का भोजन था। सन् 1958 में ही एरिट्रिया में 40,000 टन की ज्वार जिसकी कीमत 6 लाख डालर होती है, एक ही आक्रमण से 10 दिन में नष्ट हो गई। इतना अन्न 2 लाख मनुष्यों के लिये एक वर्ष तक पर्याप्त होता।

सन् 1962 में भारतवर्ष के 10,000 एकड़ क्षेत्र में फैली हुई कपास जैसी कीमती फसलें पूर्ण रूप से नष्ट हो गई थीं जिसकी कीमत 54 लाख रुपये आंकी गई थी।

टिड्डियां जहां इतनी हानि पहुचाती हैं वहां हमें उनसे नाम-मात्र का फायदा भी मिलता है। प्रथम लाभ यह है कि इसे कीट-प्रयोगशाला में चीर-फाड़ के कार्य में विद्यार्थियों की शिक्षा में प्रयुक्त किया जाता है। दूसरा लाभ यह है कि कुछ अरब देशों में यह मनुष्यों के खाने के काम में आती है, तथा तीसरा यह है कि इन्हें मछलियों को पकड़ने के लिये चारे के रूप में दिया जाता है।

मरुस्थलीय टिड्डियों का जीवन-चक्र तीन दशाओं से गुजरता है—अण्डा, फतिगा (निम्फ) तथा प्रौढ़। मादा टिड्डी एक समय में 60-120 अण्डे देती है और अपने पूरे जीवन में प्रायः 500 अण्डे दे सकती है। यह अण्डे वर्षा ऋतु के शुरू में 7-15 से० मी० गहरी नम बालू में दिये जाते हैं। 12-14 दिनों में अण्डों से निम्फ निकलने लगते हैं। निम्फ अवस्था तीन से चार सप्ताह चलती है। यदि अनुकूल वातावरण मिलता रहे तो दो या तीन पीढ़ी तक इसकी बढ़ोत्तरी चलती रहती है। फतिंगा या निम्फ के बाद प्रौढ़ावस्था आती है जब टिड्डियां समूह बनाकर उड़ने लगती हैं। टिड्डियां दिन भर उड़ती हैं और रात को भोजन तथा आराम के लिये बैठ जाती हैं। कभी कभी टिड्डी समूह बहुत बड़ा हो जाता है और लगभग 780 वर्ग मील के क्षेत्र को ढंक सकता है। यह साधारणतः 19-24 कि० मी० प्रति घंटा की रफ्तार से उड़ती हैं। ये टिड्डियां आराम

किये बिना बहुत दूर तक उड़ सकती हैं। यह देखा गया है कि टिड्डियाँ समुद्र के किनारे से 800 कि० मी० अन्दर तक जा सकती हैं। यहां तक कि यदि हवा की गति तेज है तो 1600 कि० मी० से ज्यादा दूर तक भी जा सकती हैं।

भिन्न-भिन्न देशों में तथा भारत के विभिन्न प्रान्तों की भाषाओं में टिड्डी के नाम अलग-अलग हैं—जैसे क्वारद (मिश्र), ऑल जररद (अरब), नजाई (ईराक तथा कुछ अरब देश), मलाखी दरया (फारस), मदाघ (बलूची), मकरी (पंजाबी), मक्कड़ (सिन्धी), टिड्डी (हिन्दी), पतंगा (संस्कृत), पंगोपाल (बंगाली), नाक-तोड़े (मराठी), झींतीका (उड़िया), मिदथा (तेलुगू) और वेट्टकोली (मलयालम) आदि।

भारतवर्ष में सन् 1930 से टिड्डियों की रोक-थाम के लिये बहुत कार्य हुआ है। इसे रोकने के लिये लन्दन में एक बहुत बड़ा टिड्डी विरोधी अनुसंधान केन्द्र है। भारत सरकार के खाद्य, कृषि एवं सिंचाई मंत्रालय के अन्तर्गत प्लान्ट प्रोटेक्सन क्वारेन्टाइन तथा स्टोरेज विभाग के अन्तर्गत टिड्डी चेतावनी संगठन कार्य करता है। इस संगठन के कर्मचारी टिड्डी वाले क्षेत्र में सरगर्मी से टिड्डी के अण्डे देने, निम्फ के पैदा होने, उनके एकाकी रूप से सामूहिक रूप में परिवर्तित होने अथवा वयस्क टिड्डियों के पाये जाने की सूचना उच्च अधिकारियों को वायरलेस द्वारा भेजते हैं तथा टिड्डियों की रोक-थाम के समुचित उपाय करते हैं।

टिड्डियों को रोकने के लिये दो मुख्य उपाय हैं जिन्हें यान्त्रिक व रासायनिक तरीका कहते हैं। साधारणतः सामूहिक दल की रोक-थाम के उपाय इसके आराम करने के काल में किये जाते हैं। शरद ऋतु व शीत ऋतु में सुबह का समय ठंडा होता है और टिड्डियां निष्क्रिय रहती हैं। उस समय उन्हें झाड़ू द्वारा इकठ्ठा करके तुरन्त नष्ट किया जा सकता है। ढोल, घंटा, घड़ियाल इत्यादि के शोर द्वारा भी टिड्डियों को फसलों पर बैठने से कुछ हद तक रोका जाता है।

अंडों को गड्ढे से खोदकर नष्ट किया जा सकता है, मगर यह साधन न तो मित-व्ययी है और न अचूक है। अण्डों से फतिंगे (निम्फ) निकलने का समय उनको नष्ट करने का उचित अवसर है। नीचे कुछ तरीके लिखे जा रहे हैं जिनके द्वारा भी इन्हें नष्ट किया जा सकता है :—

1. **नालियां** :—फतिंगे के रास्ते में नालियाँ खोद दी जाती हैं ताकि फतिंगों का दल उसमें गिर जाए। नालियों को पाटकर आसानी से उनमें आग जलाकर फतिंगों को नष्ट किया जाता है।

2. **जलाना** :—जब प्रौढ़ या फतिंगा अवस्था में टिड्डियां पेड़ों अथवा झाड़ियों पर रहती हैं, तब उनके ऊपर जलती हुई आग की मशालें फेंक कर नष्ट किया जाता है।

3. **जहरीला भोजन खिलाना (बेटिंग)** :—फतिंगे से ग्रसित क्षेत्र में 20—30 किलो प्रति हेक्टेयर के हिसाब से जहर मिले भोजन को झाड़ियों के आस-पास छिड़क दिया जाता है। इस प्रकार का भोजन खाने से टिड्डियाँ मर जाती हैं। बी० एच० सी० की खोज के पहले प्लोसिलीकेट का प्रयोग किया जाता था। इस उपाय में सबसे अधिक

परेशानी जहरीले भोजन के वजनदार बोरों को रेगिस्तान में एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने की होती है।

4. **जहरीला पाउडर फेंकना** :—जब फतिंगे झाड़ियों के आस पास हों या एक समूह में इकठ्ठे हों, तो बी० एच० सी० का पाउडर 17—20 किलो प्रति हेक्टेयर के हिसाब से (2.5—10%) फतिंगों की अवस्था के अनुसार बिखराना चाहिये। भारत में यह तरीका सस्ता और अच्छा सिद्ध हुआ है।

5. **जहरीला-घोल छिड़काव** :—प्रति हेक्टेयर 140—200 ग्राम एलड्रीन तथा 1140 लिटर पानी के इमलसन को तेज दबाव के साथ छिड़कने से फतिंगे तुरंत मर जायेंगे। इस प्रकार के घोल अथवा पाउडर छिड़कने के लिये आजकल हेलीकाप्टर या हवाई जहाज को भी काम में लाया जाता है। एलड्रीन के अलावा डाइएलड्रीन, मेलेथियोन, मिथाइल पैराथियोन और डी० एन० सी० को तेल के साथ मिलाकर छिड़कने से अण्डों का क्षेत्र, फतिंगा और फतिंगों के समूह दल नष्ट किये जा सकते हैं।

—०—

प्राणि-जगत 1 : 63-67 (1980)

भारतीय मधु-उद्योग एवं मधुमक्खियां

रघुनाथ तिवारी

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

आदि काल से ही मानव अपने भरण-पोषण के लिये प्रकृति पर निर्भर रहा है। इसी लिए मनुष्य ने विभिन्न प्रकार के कीड़ों को पालने का प्रयास किया कि उनके द्वारा बनी हुई वस्तुओं से अपने दैनिक जीवन में लाभ उठा सकें। बहुत हद तक उसे इस विषय में सफलता भी मिली है। मानव जीवन में लाभ की दृष्टि से, कीट–वर्गीय प्राणियों में मधुमक्खियों का स्थान सर्वोपरि है।

मधु फूलों के रस (नेक्टर) से प्राप्त होता है। फूलों में यह पदार्थ इतनी कम मात्रा में होता है कि मनुष्य के लिए इसका संग्रह करना कठिन ही नहीं अपितु असंभव है। यह कार्य मधुमक्खियों द्वारा ही संभव हो पाता है। एक मधुमक्खी को आधा किलोग्राम शहद तैयार करने के लिए 40,000 से 80,000 बार उड़ान भरनी पड़ती है। इस प्रयत्न में एक मधुमक्खी को भूमण्डल के परिधि की प्रायः दो बार परिक्रमा के बराबर की दूरी तय करनी पड़ती है।

मधु का उत्पादन :—जो मधु या शहद हम खाते हैं, उसके उत्पादन में मधु–मक्खियों का योगदान अत्यंत ही सराहनीय है। मधु का निर्माण एक विशेष प्रकार की जीव-रासायनिक किया के फलस्वरुप होता है, जो मधुमक्खियों के आहार-नाल में ही संभव हो पाती है। मधुमक्खियां जब पुष्प-रस चूसती हैं उस समय यह तरल-पदार्थ उनके मुंह में लार से मिश्रित होकर उनके पेट में स्थित एक कोष्ठ में पहुँचता है। इस कोष्ठ में विभिन्न जीव-रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप मधु का निर्माण संभव हो पाता है। उपर्युक्त कोष्ठ से इस प्रकार नवनिर्मित मधु क्रमाकुंचक—गति के विपरीत पेट से बाहर मुंह की तरफ आता है, जहां से यह मधु कोष में संचय हेतु पहुँचता है। तत्पश्चात मजदूर कर्मी मधुमक्खियों के पंखों द्वारा एक तीव्र वायु धारा प्रवाहित होती है जो मधु को मधुकोष में वाष्पीकरण की क्रिया द्वारा तरल अवस्था से सघन बनाती है।

मधु की रासायनिक संरचना :—इसका आपेक्षिक घनत्व 1.359 से 1.361 तक होता है, अर्थात् यह पानी से कुछ अधिक भारी होता है। इसका मुख्य भाग चीनी के समान मीठे द्रव से बना होता है, जिसकी मात्रा मधु का प्रायः 97% होती है। मधु के कुछ मुख्य अवयव इस प्रकार हैं :

जल	14% से 24%
डेक्सट्रोज	23% से 36%
लेम्यूलोज	30% से 44%
सुक्रोज	0.4% से 6%
डेक्सट्राइन गम	0% से 7%

उपर्युक्त पदार्थों के अलावा प्रत्येक 100 ग्राम मधु में विटामिन बी-1, बी-2, विटामिन सी तथा निकोटिनिक एसिड क्रमश: 6, 60, 5 माइक्रोग्राम तथा 32 मिलीग्राम पाए जाते हैं।

आर्थिक महत्व :—जैसा कि हम जानते हैं, मधुमक्खियां हमारे लिए अति लाभकारी प्राणी हैं। अत: इनसे हम विभिन्न रूपों में लाभान्वित होते हैं। इनसे होने वाले लाभ इस प्रकार हैं—

(i) **भोज्य-पदार्थ के रूप में** :—शहद, शक्कर का एक प्राकृतिक रूप है एवं विभिन्न प्रकार के रासायनिक कार्यों में उपयोग में लाया जाता है। यह अधिकतर मनुष्य के भोज्य-पदार्थ के रूप में प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग तो इससे बने शर्बत को एक उत्तम पेय मानते हैं।

(ii) **औषधि के रूप में मधु** :—भारतवर्ष में आदिकाल से ही शहद के सेवन की विधि प्रचलित है। जब यहाँ पर पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान कम प्रचलित था, उस समय स्वदेशी-आयुर्वेदिक औषधियां ही एक मात्र मानव समाज को रोग-ग्रस्त होने से मुक्त कर पाती थीं और इस औषधि प्रणाली में शहद का स्थान विशेष उल्लेखनीय है। कई प्रमुख आयुर्वेद शास्त्रियों की राय है कि शहद ब्रोंकाइटिस, ब्रोंकोनिमोनिया, खांसी एवं विविध प्रकार के छाती से संबंधित रोगों की यह एक अचूक दवा है। विशेष कर नवजात शिशुओं को हृष्ट-पुष्ट रखने एवं अन्य रोगों से बचाए रखने के लिए इसका सेवन अधिक उपयोगी है। इसके अतिरिक्त रोगग्रस्त व्यक्तियों के लिए यह एक विशेष आहार के रूप में भी उपयोग किया जाता है।

(iii) **औषधि के रूप में मधुमक्खी का प्रयोग** :—होमियोपैथिक औषधि के रूप में इसकी एक जाति एपीस मेलिफिका से "एपीस मेल" नामक औषधि बनायी जाती है, जिसकी उपयोगिता बहुमुखी है, विशेषकर मूत्राशय संबंधित रोग जैसे-मूत्रनाल की जलन, हिमेचुरिया, अल्प मूत्रावस्था, एवं शरीर में मूत्र के अनअपेक्षित संग्रह से उत्पन्न होने वाले रोग—एसाइटिस, इडिमा, इत्यादि में इसे बहुतायत से प्रयोग किया जाता है। चर्म रोग विशेषकर अर्टीकेरिया, नेटिल-रैश तथा विभिन्न अन्य त्वचा के रोगों में यह अचूक औषधि है। जिसके फलस्वरुप क्षण भर में ही बेचैन रोगी रोगमुक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य रोगों में भी इस औषधि को व्यवहार किया जाता है, जैसे पतले दस्त, रुक रुक कर आने वाला (इंटरमिटेन्ट) ज्वर, स्कारलेटिना एवं वृषण के सूजन, इत्यादि के इलाज में इससे लाभ सराहनीय है।

(iv) **उद्योग के रूप में** :—शहद का निर्माण एक प्रकार का प्रमुख गृह-उद्योग हो गया है, एवं सरकार इसके उत्पादन हेतु छोटे-छोटे "मधुमक्खी पालन केन्द्र" की स्थापना में सक्रिय सहयोग दे रही है। इन केन्द्रों पर सरकारी अनुदानों के द्वारा इनका पालन एवं मधु निर्माण किया जाता है। यह एक प्रकार का व्यापारिक प्रशिक्षण है, जिससे साधारण जनता लाभ उठाकर आत्मनिर्भर बन सकती है। आजकल की बेरोजगारी की अवस्था में यह एक ध्यान देने योग्य विषय है।

(v) अतिरिक्त उत्पादन के रूप में :—पेरिश (1866) के मतानुसार मधुमक्खियों के मधु-छत्ते से प्राप्त रेसीनस पदार्थ को बर्मी लोगों द्वारा इकट्ठा किया जाता है। इसे पेट्रोलियम में घोलकर एक प्रकार की पालिश तैयार की जाती है, जो नखों को रंगने के लिए काम में लायी जाती है। इससे बर्मा सरकार को काफी विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।

(vi) मोम के रूप में :—मोम एक प्रकार का रासायनिक पदार्थ है। यह एक स्राव के रूप में, मजदूर कर्मी मधुमक्खियों के पेट के ऊपरी तल में स्थित विशेष ग्रन्थियों द्वारा निर्मित होता है। एक पौण्ड मोम का निर्माण 3 से 20 पौण्ड मधु के खपत के परिणामस्वरूप हो पाता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक चिनबाल के मतानुसार मोम की रासायनिक संरचना निम्नलिखित है :

मद्यसार (अल्कोहल)	24—36%
वसा अम्ल (फैटी एसिड)	24—34%
पैराफीन	23—37%

इसका उपयोग मधुमक्खियां अपना शहद संग्रह करने हेतु मधुकोष के निर्माण में करती हैं। मनुष्यों द्वारा यह विभिन्न प्रकार के रंग बनाने में व्यवहार किया जाता है। अधिकतर इससे मोमबत्तियाँ बनाई जाती हैं, जो अन्य मोमबत्तियों की तुलना में धूम्रहीन अवस्था में जलती हैं। मोम का अधिकांश भाग क्रीम, सौन्दर्य-प्रसाधन, पालिश, माडेल, कार्बन, इलेक्ट्रिकल तथा लीथोग्राफिक वस्तुओं के निर्माण हेतु व्यवहार किया जाता है।

(vii) परसेचक के रूप में :—क्यों कि मधुमक्खियाँ बहुधा फूलों पर क्चिरण करती रहती हैं, अतः प्रकृति में फूलों की ये प्रधान परसेचक हैं। इनके सहारे पौधों में सेचन किया अत्यन्त सुलभ हो जाती है, जिसके फलस्वरूप पौधों की उपज बढ़ाई जा सकती है।

भारतवर्ष में पायी जाने वाली विभिन्न मधुमक्खियां

भारतवर्ष में प्रायः पाँच तरह की मधुमक्खियां पायी जाती हैं :

(1) मेगापिस डार्सेटा :—ये पहाड़ी मधुमक्खियाँ हैं। इनका आकार प्रायः 20 मि० मि० होता है। पंखों का फैलाव प्रायः 30-37 मि० मि० होता है। ये अपेक्षाकृत बड़ा मोम का चक्का बनाती हैं। ये काफी विषाक्त होती हैं। कभी कभी इसका विष मनुष्य के लिये घातक सिद्ध हो सकता है। ये जल्दी पालतू नहीं बनायी जा सकती।

भौगोलिक वितरण :—प्रधानतया भारतवर्ष, बर्मा, श्रीलंका, चीन एवं जावा में ये बहुतायत से पायी जाती हैं।

(2) माइक्रापिस फ्लोरिया :—ये आकार में छोटी होती हैं। इनकी लम्बाई प्रायः 8-12 मि० मि० तक होती है तथा पंखों का फैलाव 16-24 मि० मि० होता है। ये 25 से० मी० व्यास का मोम का चक्का तैयार करती हैं, जिससे बहुत कम मधु तैयार होता है।

भौगोलिक वितरण :—मध्य भारत, मद्रास, बंगलौर, असम, बंगाल, श्रीलंका तथा मलाया इत्यादि में अधिकतर पायी जाती हैं।

(3) **एपीस मेलीफेरा :**—ये प्रायः पश्चिमी जगत की प्रजाति है। प्रधानतया यूरोप, अमेरिका की प्रमुख मधुमक्खी है, परन्तु आजकल ये भारत में भी पायी जाती है।

(4) **एपीस इन्डिका :**—ये भारतीय प्रजाति हैं। ये भारत के समतल मैदान, वन एवं जंगलों में प्रमुख रूप से पायी जाती हैं। ये पहाड़ी मधुमक्खियों से छोटी होती हैं, किन्तु अन्य प्रजातियों से बड़ी होती हैं। इनका आकार 11-16 मि० मी० तथा पंखों का विस्तार 21-32 मि० मि० होता है। ये साधारणतया दीवालों या अन्य ऐसे ही सुरक्षित स्थानों में अण्डा देना पसन्द करती हैं। यद्यपि इनसे अपेक्षाकृत कम मधु मिलता है, फिर भी इनके स्वभाव एवं पालतूपन के कारण इन्हें आसानी से पाला जा सकता है।

भौगोलिक वितरण :—सम्पूर्ण भारतवर्ष, विशेषकर असम; तथा बर्मा, तेनासेरीम; पूर्व में मलाया से लेकर पश्चिम में मैडागास्कर तक पायी जाती है।

(5) **मेलीपोना :**—ये आकार में बहुत छोटी होती हैं। इनका आकार 3—4 मि० मि०, और पंख विस्तार 9—10 मि० मि० होता है। ये डंकहीन मधुमक्खियों के समुदाय से संबंधित है, क्योंकि इनका डंक बहुत ही कम विकसित होता है। इनके मधुछत्ते क्षैतिज सतहों के बने होते हैं। ये अपने छत्तों को पेड़ों के खोखले, पहाड़ियों एवं अन्य ऐसे ही स्थान पर तैयार करती हैं।

भौगोलिक वितरण :—मणिपुर तथा पश्चिमोत्तर भारत, बर्मा, तेनासेरीम इत्यादि में पायी जाती हैं।

कीटनाशक रसायनों से मधुमक्खियों का बचाव :—साधारणतः कीटनाशक रसायनों के प्रयोग से मधुमक्खियों के विनाश की बहुत संभावना रहती है। इन मधुमक्खियों से मधु एवं मोम के रूप में राष्ट्र को जो धन प्राप्त होता है, वह बहुमूल्य है। इसके अतिरिक्त मधुमक्खियां सेचन में जो योगदान देती हैं, वह अत्यन्त ही आवश्यक है। सत्य तो यह है कि पौधों के परसेचन में अगर कोई सफल सहायक है, तो एकमात्र यही मधुमक्खियाँ। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए कीट नाशकों से उचित रक्षा, अत्यन्त ही आवश्यक है। यह तभी संभव है जब किसान एवं मधुमक्खी-पालक आपस में सहयोग करें, क्योंकि मधुमक्खियों की उपयोगिता दोनों ही पक्षों के लिए है।

ध्यान देने योग्य कुछ सुझाव :—प्रत्येक मधुमक्खी-पालक को शिक्षित होना अपेक्षित है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसे प्राणि-विज्ञान, कृषि एवं रसायन विज्ञान का साधारण ज्ञान हो। ऐसी जानकारी के बाद ही वे उचित वैज्ञानिक विधियों को काम में ला सकते हैं। उनके ध्यान देने योग्य कुछ अन्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(1) कीटनाशक रसायनों के भौतिक एवं रासायनिक गुणों का समुचित ज्ञान एवं इनके प्रभाव की जानकारी।

(2) मधुमक्खी-पालन केन्द्रों का चुनाव मधुमक्खियों के लिए उचित वातावरण के दृष्टिकोण से होना चाहिए ।

(3) मधुमक्खियों को इस प्रकार प्रशिक्षित करने का प्रयास करें कि वे अधिक दूर के स्थानों का भ्रमण न करें ।

(4) अगर ऐसा देखा जाए कि किसी विशेष केन्द्र के पास कीट नाशक रसायनों का बहुतायत से प्रयोग हो रहा है, तो अपने पालन केन्द्रों को कहीं दूर सुरक्षित स्थान पर स्थानान्तरित करें ।

सन्दर्भ

पेरिश, सी० एस० पी०, 1866. साइन्स गौसिप : 198.

—०—

प्राणि-जगत, 1 : 69—81 (1980)

पश्चिमी हिमालय के व्याध-पतंगों का निरीक्षण

महाबीर प्रसाद एवं अणरु कुमार*
भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

भूमिका

व्याध पतंग को अंग्रेजी बोलचाल की भाषा में ड्रैगनफ्लाई कहते हैं और कीट वैज्ञानिक ओडोनाटा क्रम (आर्डर) का सदस्य मानते हैं। इनके लार्वा का पूरा जीवन पानी में ही बीतता है। व्याध पतंग के प्राकृतिक वास और वातावरण के बारे में शोध-कार्य कम हुए हैं। गैम्बलेस (1960), कोर्बेट (1962, 1964) ने अयन वृत प्रदेशों के कुछ व्याध पतंगों का अध्ययन करके यह उल्लेख किया है कि किस प्रकार परि-स्थितियां उनके वितरण पर प्रभाव डालती हैं। फुरटेडो (1969) ने मलयेसिया के 7 जलाशयों व 13 श्रोतों के पास पाये जाने वाले व्याध पतंगों और लार्वों पर वातावरण का प्रभाव तथा उनके आपसी सम्बन्धों का अध्ययन कर एक सारणी भी प्रकाशित की है। भारत में कुमार (1972) ने देहरादून घाटी (उत्तर प्रदेश) की व्याध पतंगों के लार्वों के विकास और उनके प्राकृतिकवास पर मानसून के प्रभाव का अध्ययन किया है। कुमार एवं जुनेजा (1976) ने रेनुका झील से व्याध पतंगों के 31 जातियों का लेखा प्रस्तुत किया है। संगल (1961) ने भी क्रोकोथेमिस सरविलिया सर-विलिया के जीवनचक्र का अध्ययन करते समय उसकी तीन संतति का अभिलेख किया है। कुमार एवं प्रसाद (1977) ने देहरादून घाटी और उसके आसपास के जला-शयों और धान के खेतों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगों का अध्ययन कर उनकी सूची भी दी है।

इस शोध पत्र में पश्चिमी हिमालय के हिमाचल प्रदेश (कांगड़ा जिला) और उत्तर प्रदेश (गढ़वाल और कुमाऊं की पहाड़ियों) में पाये जाने वाले व्याध पतंगों पर विभिन्न वातावरण और परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ता है। उसका निकट से अध्ययन किया गया है। इसमें कुछ 85 व्याध पतंगों तथा उनके लार्वल वास का अध्य-यन प्रस्तुत किया गया है।

निरीक्षण

व्याध पतंगे मई से नवम्बर माह तक अपने लार्वल वास पर अधिक मिलते हैं। प्रकृति में इनकी उपस्थिति लार्वल वास, वयस्कों के निकलने तथा परिस्थितिकी पर निर्भर करती है। उंचाई के स्थानों में अप्रैल से जून तक तथा अक्टूबर से नवम्वर तक नदी, नाले और झरनों के आसपास ये अधिक मिलते हैं। व्याध पतंगे पहाड़ी क्षेत्रों में 600 मीटर से 2300 मीटर ऊंचाई तक अधिक संख्या में मिलते हैं। 600 मीटर से 1200 मीटर उंचाई तक इनकी संख्या सबसे अधिक होती है तथा 1200 मीटर से 2300 मीटर के बीच इनकी संख्या क्रमशः कम होती जाती है। यहां तक कि 3300

* भारतीय प्राणी सर्वेक्षण विभाग, उत्तर क्षेत्रीय केन्द्र, देहरादून—248001 (उत्तर प्रदेश)।

मीटर व उससे ज्यादा की ऊंचाई पर ये दुर्लभ ही मिलते हैं। मैदानी भागों में ये मार्च से नवम्बर तक मिलते हैं। परन्तु जुलाई से अक्टूबर के बीच ये बहुत अधिक दिखाई देते हैं। इन दिनों किसी भी लार्वल वास पर इन्हें आसानी से देख और पकड़ सकते हैं। लार्वस वास को वयस्क निकलने का समय, वातावरण और परिस्थितिकी के अनुसार निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। इन स्थानों पर पाई जाने वाली जातियां सारणी में (+) चिन्ह से दिखाई गयी हैं।

1. मौसमी मानसूनी जलाशयों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे
2. स्थायी मानसूनी जलाशयों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे
3. तीव्रगतिशील पहाड़ी श्रोतों एवं नदियों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे
4. मन्दगति से बहने वाले श्रोतों, नदियों एवं उप-नदियों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे
5. घने जंगलों के बीच मंदगति से बहने वाले समतलीय श्रोतों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे
6. घने जंगल और वनस्पतियों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे
7. छोटे-छोटे झरनों और उनमें जलीय पौधों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे
8. उद्यानों में सीमेन्ट के पक्के जलाशयों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे, और
9. धान के खेतों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे।

1. मौसमी मानसूनी जलाशयों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे : ये जलाशय मानसून की पहली वर्षा में भर जाते हैं। इनमें जून के अन्तिम सप्ताह से सितम्बर तक लगभग तीन माह पानी रहता है। जैसे ही पानी भरता है इनमें जलीय पौधे उग आते हैं। आसपास की वनस्पति तथा झाड़ियों के कारण नमी में व्याध पतंगे यहाँ पर आ जाते हैं। इस वातावरण में वे ही व्याध पतंगे मिलते हैं जो अपना जीवन चक्र शीघ्र ही पूरा कर लेते हैं।

2. स्थायी मानसूनी जलाशयों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे : इस तरह के जलाशयों में पानी पूरे साल भरा रहता है। इनमें जलीय पौधे भी अधिक होते हैं। इनके किनारों पर छोटी या बड़ी झाड़ियाँ भी प्रायः पाई जाती हैं। बरसात के समय में जून के अंतिम सप्ताह से सितम्बर तक पानी इनमें बहुत अधिक हो जाता है। इसलिए इन दिनों व्याध पतंगों की संख्या भी बहुत अधिक हो जाती है। वैसे इन स्थानों में व्याध पतंगे पूरे साल ही कम या अधिक संख्या में मिलते हैं। दिसम्बर से फरवरी के बीच जब ठंड अधिक पड़ने लगती है उस समय ये दुर्लभ ही दिखाई पड़ते हैं। इस वातावरण में एक से तीन जीवन चक्र वाले व्याध पतंगे पाये जाते हैं।

3. तीव्रगतिशील पहाड़ी श्रोतों एवं नदियों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे : इस लार्वल वास की नदियों और श्रोतों में जलधारा बहुत ही तीव्र होती है। इनकी तली आमतौर पर पत्थरों और बालू से भरी रहती है। इनके किनारों पर झाड़ियाँ और छोटी-छोटी वनस्पतियाँ भी पाई जाती हैं। इन नदियों और श्रोतों में पानी बढ़ने से पहले अर्थात् अप्रैल से जून माह के दूसरे सप्ताह के बीच इनकी संख्या बहुत

अधिक हो जाती है। क्योंकि इन दिनों वयस्कों का निकलना (इमर्जेन्सी) बहुत होता है। पुनः बरसात के बाद अक्टूबर और नवम्बर के बीच यहां मिलती हैं। तीव्र धाराओं से बहती हुई नदियों और श्रोतों के बीच-बीच दिखाई पड़ने वाले पत्थरों के ऊपर फड़-फड़ाती हुई न्यूरोबेसिस, राइनोमाइफा और लैमलिगोम्फस की जातियां देखने को ज्यादा मिलती हैं। यहाँ अधिकतर एक जीवन चक्र वाले व्याध पतंगे मिलते हैं। परन्तु स्थायी मानसूनी या मौसमी मानसूनी जलाशयों वाले व्याध पतंगें वहां से यहां अक्टूबर के आसपास इस वातावरण में आ जाते हैं और अपना दूसरा जीवन चक्र भी यहां पूरा करते हैं।

4. **मंदगति से बहने वाले श्रोतों, नदियों एवं उप-नदियों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे :** इनके किनारों पर दलदल में पाई जाने वाली जलीय वनस्पतियां अधिक होती हैं। वर्षा प्रारम्भ होते ही जून से सितम्बर के बीच इसकी भी धारा तेज हो जाती है। इस वातावरण को व्याध पतंगे अधिक पसन्द करते हैं। इसलिए इनकी संख्या भी अन्य लार्वल वास के अपेक्षाकृत ज्यादा हो जाती है। मुख्य धाराओं से निकली हुई बहुत ही छोटी-छोटी शाखाओं में जलीय वनस्पतियों के ऊपर कई जातियों के व्याध पतंगे बहुत ही अधिक उड़ते और बैठे रहते हैं। इस वातावरण में मई से नवम्बर के बीच व्याध पतंग अत्यधिक पाये जाते हैं।

5. **घने जंगलों के बीच मंदगति से बहने वाले समतलीय श्रोतों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे :** घने जंगलों के बीच होकर छोटे-छोटे श्रोत और उप-नदियां बहती रहती हैं। इनके तलों में छोटे-छोटे पत्थर और पेड़ों की सूखी हुई पत्तियां होती हैं। दोनों किनारों पर झाड़ियाँ जलीय पौधे तथा वनस्पतियाँ भी होती हैं। इस वातावरण के ऊपर जंगली पेड़ों की टहनियां भी झुकी रहती हैं। अन्य वातावरणों की अपेक्षा अंधेरा तथा नमी भी कुछ अधिक ही होती है। यहाँ खासकर कम उड़ सकने वाली जातियां ही मिलती हैं। इन व्याध पतंगों के शरीर तथा पंखों का रंग भी अधिक सुन्दर होता है। प्रायः क्लोरोसिफीडी, कैलोपटेरिजीडी, गोम्फिडी और लाइवेलूलिडी परिवारों की जातियाँ पाई जाती हैं।

6. **घने जंगल और वनस्पतियों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे :** घने जंगलों में कहीं–कहीं खुले मैदान पाये जाते हैं। यहां पर झाड़ियां और अन्य प्रकार की वनस्पतियां भी पाई जाती हैं। पानी से दूर इस स्थान पर भी व्याध पतंगों की कुछ जातियाँ बैठी हुई या उड़ती हुई मिलती हैं। इनके शरीर का रंग पानी के पास पायी जाने वाली जातियों से कुछ हल्का होता है। इस वातावरण में सीनेग्रीडी, गोम्फिडी और लाइवेलूलिडी परिवारों की जातियां अधिक मिलती हैं।

7 **छोटे-छोटे झरने और उनमें जलीय पौधों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे :** पहाड़ियों के बीच से बहते झरनों का पानी पूरे वर्ष भर धीरे-धीरे गिरता रहता है, जो बरसात के समय इन झरनों में तेजी से बहने लगता है। इनके बीच में छोटे-छोटे जलीय पौधे भी उगे रहते हैं। इन वनस्पतियों के बीच में मई और जून के बीच कैलिकनेमिया-माइल्स और ड्रेपनोस्ट्रिक्टा कारमिकेलि के बैठे हुए या

फड़फड़ाते हुए सदस्य दिखाई देते हैं। ये बहुत ही कम उड़ने वाली जातियाँ हैं। जो आसानी से पकड़ी जा सकती हैं।

8. **उद्यानों में सीमेन्ट के (पक्के) जलाशयों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे :** आबादी के बीच, बगीचों से घिरे सीमेन्ट की बावलियां, जिनमें पूरे साल पानी भरा रहता है, उनकी दीवालों पर, या आस-पास कभी-कभी घरों की दीवालों पर **ब्रैडिनोपाइगा जेमिनाटा** प्रायः देखने को मिलती हैं। इस वातावरण में **जिगजोमा पेटियोलेटम** की जाति भी बहुधा मिलती हैं।

9. **धान के खेतों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे :** जैसे ही बरसात शुरू होती है, धान के पौधे लगाये जाने लगते हैं। खेतों में पानी बराबर लगा रहता है। इन धान के खेतों में बहुत अधिक व्याध पतंगे आ जाते हैं। ये वहां पर उस समय तक मौजूद रहते हैं जब तक कि धान की फसल की कटाई नहीं हो जाती है या पानी नहीं सूख जाता है।

क्रम संख्या	जातियों के नाम	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
1	2	मोसमी मानसूनी जलाशयों के आस पास	स्थायी मानसूनी जलाशयों के आस पास	तीव्र गतिशील पहाड़ी धारा एवं नदियों के आस पास	मंदगति से बहने वाले धारा, नदियों एवं उप नदियों के आस पास	जंगलों के बीच मंदगति से बहने वाले समतलीय धारों के आस पास	जंगल एवं वनस्पतियों के आस पास	छोटे-छोटे झरने और उनके जलीय पौधों पर के आस पास	उद्यानों में सीमेन्ट के (पक्के) जलाशयों के आस पास	घास के खेतों के आस पास	हिमालय क्षेत्र पश्चिम हिमालय के आस	उत्तर प्रदेश पहाड़ों का विवरण
1	बंश प्लेटीस्किटोडी	ड्रेपनोस्टिक्टा कारमीकैली लैंडला			+			+				+
2.	बंश प्रोटोन्यूरीडी	सैकोन्यूरा आटोमनैलिस आटोमनैलिस फ्रेजर			+	+						+
3.	बंश प्लेटीकेनेमिडाइडी	कोपेरा मारजिनीपीस (राम्बूर)			+	+		+			+	+
4.		कोपेरा भीटेटा (सिलिस)			+	+		+			+	+
5.		कैलिकेनेमिया माइलस लैंडला			+			+			+	+
6.		कैलिकेनेमिया पलभूलैन्स सिलिस			+							+
7.	बंश सेनाग्रीडी	स्यूडाग्रीआन डेकोरम (राम्बूर)	+		+						+	+
8.		स्यूडाग्रीआन रूब्रीसेप्स सिलिस	+		+						+	+
9.		स्यूडाग्रीआन लैंडलावी फ्रेजर										+

	1.	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
	10.	सेरिएग्रिआन कांरोमैन्डेलिएनम (फेब्रीसीयस)	+	+		+					+	+	+
	11.	सेरिएग्रिआन सेरिनोरूबेलम (ब्राउअर),				+						+	+
	12.	इस्चन्यूरा मेनेगालेन्सिस राम्बूर		+		+						+	+
	13.	इस्चन्यूरा फासीपाटा मार्टन	+	+		+					+	+	+
	14.	इस्चन्यूरा डेलिकेटा (हैगन)	+	+		+					+	+	+
	15.	इस्चन्यूरा रुफोस्टीग्मा सिलिस				+						+	+
	16.	इनेलग्मा पारभम सिलिस	+	+		+					+		+
	17.	एसिएग्रेयान पैलिडम सिलिस					+	+					+
	18.	रोडिश्चन्यूरा नरसियाई (मार्टन)	+	+									+
	19.	एग्रियोकनेमिक क्लाउसेनी फ्रेजर				+							+
	20.	एग्रियोकनेमिक पिगमिया (राम्बूर)	+	+							+	+	+
परिवार क्लोरोलिस्टिडी	21.	मेगालेस्टिस मेजर सिलिस			+	+							+
परिवार लिरिडी	22.	लेस्टिस पिमोर्सा प्रिमोर्सा सिलिस	+	+									+
	23.	लेस्टिस भिरीडुला राम्बूर	+	+				+				+	+

	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
	24.	लेप्टिस थोरेसिका लैडला	+	+									+
परिवार क्लोरोसीफिडी	25.	लाईवैलेगो लिनिएटा लिनिएटा (बरमिस्टर)				+	+					+	+
	26.	रहिनोसीफा क्वाड्रीमैकुलेटा सिलिस			+	+	+					+	+
	27.	रहिनोसीफा युनिमैकुलेटा सिलिस			+	+	+						+
	28.	रहिनोसीफा ट्राईफैसिएटा सिलिस			+	+	+						+
	29.	रहिनोसीफा बाईफोरेटा बीसोनी फ्रेजर				+	+						+
परिवार इपलेजिडी	30.	ऐनआइसोप्लियूरा लिष्टवाइडिस सिलिस			+	+							+
	31.	ऐनआइसोप्लियूरा कोम्स सिलिस			+	+							+
	32.	बायद्रा इन्डिका सिलिस			+	+						+	+
परिवार केलोप्टेरिजिडी	33.	न्यूरोबेसिस चीनेन्सिस चीनेन्सिस (लिनियस)			+	+	+					+	+
परिवार गोम्फिडी	34.	एर्नोमोगोम्फस हेटरोप्टेरस सिलिस			+	+						+	+
	35.	एर्नोमोगोम्फस क्रिसनकोई (बर्टनेफ)				+							+

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
36.	एनाइसोगोम्फस अक्सीपिटेलिस सिलिस			+	+							+
37.	एनाइसोगोम्फस बाईभिटैटस सिलिस			+	+							+
38.	मिजोगोम्फस लिनिएटस (सिलिस)		+	+	+						+	+
39.	ओनाइकोगोम्फस एम-फ्लेभम सिलिस			+	+						+	+
40.	ओनाइकोगोम्फस सेरम्टिस (सिलिस)			+	+							+
41.	लेमलीगोम्फस रिसी (फ्रेजर)			+	+							+
42.	लेमलीगोम्फस बाईफारसेप्स (सिलिस)			+	+							+
43.	निपोगोम्फस मोडेष्टस (सिलिस)			+	+						+	+
44.	इक्टिनोगोम्फस रैपेक्स राम्बूर		+								+	+
45.	एनाक्स इमाकुलिफरान्स राम्बूर			+	+							+
46.	एनाक्स गटैटस (बरमिस्टर)	+	+									+
47.	हेमिएनाक्स इफिपीगर (बरमिस्टर)				+						+	+

	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
परिवार कारडुलिगैस्ट्रिडी	48.	एनोटोगैस्टर बेसैलिस बेसैलिस सिलिस			+								+
परिवार कोरडुलीडी	49.	मैक्रोमिया मुरई सिलिस			+	+						+	+
परिवार लाईबेलूलिडी	50.	टेट्राथिमिस प्लैटिपटेरा सिलिस					+						+
	51.	क्रैटिला लिनिएटा (ब्राऊअर)	+									+	+
	52.	पोटामार्का आब्स्कूरा (राम्बूर)	+	+				+				+	+
	53.	आरथेट्रम ब्रुनियम ब्रुनियम (फा-सकोलम्बि)				+						+	+
	54.	आरथेट्रम टेनियोलेटम (सनाइडर)				+					+	+	+
	55.	आरथेट्रम क्राइजोष्टिगमा लुजोनिकम (ब्राऊअर)				+						+	+
	56.	आरथेट्रम सवाइन सवाइना (डरूरी)	+	+		+					+	+	+
	57.	आरथेट्रम जापानिकम इन्टरनम मैकलेकलन		+		+						+	+
	58.	आरथेट्रम ट्राइएंगुलरी ट्राइएं-गुलरी (सिलिस)				+						+	+
	59.	आरथेट्रम ग्लाउकम (ब्राऊअर)				+		+			+	+	+
	60.	आरथेट्रम प्रुविनोसम नेगलेक्टम (राम्बूर)		+		+	+	+			+	+	+

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
61.	आरथेट्रम एनमेन्स (सनाइडर)			+	+							+
62.	पालपोप्लियूरा सेक्समैक्युलेटा सेक्समैक्युलेटा (फेब्रिसीयस)		+		+	+				+	+	+
63.	ब्रेकिडीप्लेक्स सोवरीना (राम्बूर)		+		+						+	+
64.	ब्रेकिथेमिस कन्टेमिनेटा (फेब्रिसियस)	+	+								+	+
65.	एकिसोमा पेनारपोआइडिस पेनारपोआइडिस राम्बूर	+	+		+						+	+
66.	डिपलेकोडिस नेबुलोसा (फेब्रिसियस)	+	+				+				+	+
67.	डिपलेकोडिस ट्राईभोण्लिस (राम्बूर)	+	+				+				+	+
68.	क्रोकोथेमिस सरभिलिया सरभिलिया (डरूरी)	+	+		+	+	+			+	+	+
69.	ब्रेडिनोपाइगा जेमिनाटा (राम्बूर)								+			+
70.	न्यूरोथेमिस फलभिया (डरूरी)	+	+								+	+
71.	न्यूरोथेमिस इंटरमिडिया इंटरमिडिया (राम्बूर)	+			+						+	+

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
72.	न्यूरोथेमिस टुलिया टुलिया (डब्रूरी)	+	+								+	+
73.	सिम्पेट्रम कोम्मिक्सटम (सिलिस)				+						+	+
74.	सिम्पेट्रम हाइपोमिलस (सिलिस)				+							+
75.	ट्राईथेमिस अरोरा (बरमिस्टर)			+	+						+	+
76.	ट्राईथेमिस किरबीई किरबीई सिलिस			+	+						+	+
77.	ट्राईथेमिस फेस्टीभा (राम्ब्रूर)			+	+						+	+
78.	ट्राईथेमिस पल्लोडिनरभिस (किरबी)		+		+						+	+
79.	जाइगोनिक्स टोरिडा इजइज फ्रेजर			+	+							+
80.	रहयोथेमिस भेरिगेटा भेरिगेटा (लिनियस)	+	+								+	+
81.	जीक्सोमा पेटियोलेटम राम्ब्रूर								+		+	+
82.	थोलिमिस टिर्लागा (फेब्रिसीयस)	+	+								+	+
83.	पंटाला फ्लेभेसेंस (फ्रेब्रिसीयस)	+	+		+	+	+			+	+	+
84.	ट्रेमिया बैसिलेरिस बरमीस्ट्री किरबी	+	+								+	+
85.	ट्रेमिया भिरजिनीया (राम्ब्रूर)	+	+								+	+

निष्कर्ष

समशीतोष्ण कटिबन्ध में तापक्रम, परिस्थितियाँ और वातावरण वहाँ के व्याध पतंगों के वितरण और जीवनचक्र को प्रभावित करते हैं (गैम्बलेस, 1960; कोंवेट, 1962)। पश्चिमी हिमालय के व्याध पतंगों पर भी वहाँ की विभिन्न परिस्थितियाँ, वातावरण और मानसूनी वर्षा उनके वितरण और जीवन चक्र को नियन्त्रित करते हैं।

मौसमी मानसूनी जलाशय, तीव्रगतिशील पहाड़ी श्रोतों एवं नदियों, मंदगति से बहने वाले श्रोतों नदियों एवं उप–नदियों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगे एक वर्ष में एक जीवन-चक्र पूर्ण करते हैं। स्थाई मानसूनी जलाशय वाले एक वर्ष में एक से दो तथा कुछ व्याध पतंगे तीन भी जीवन चक्र पूर्ण कर लेते हैं। जो व्याध पतंगे मौसमी मानसूनी जलाशय और स्थायी मानसूनी जलाशयों पर एक जीवन चक्र पूर्ण करके मानसून के अन्त में श्रोतों, नदियों और उप नदियों पर चले जाते हैं, वहाँ पर वे फिर अपना एक जीवन चक पूरा करते हैं। इन स्थानों पर से मानसून शुरु होने के पहले ही वयस्क निकल कर आसपास के जंगलों में चले जाते हैं। जैसे ही मानसून शुरू होता है ये फिर वापस जंगलों से मानसूनी जलाशयों पर चले आते हैं। मंदगति से जंगलों के बीच बहने वाले श्रोतों पर प्रायः एक ही जीवन चक्र वाले व्याध पतंगे मिलते हैं। उद्यानों में सीमेंट के जलाशयों पर **ब्रेडिनोपाइगा जेमिनाटा और जीक्सोमा पेटियोलेटम** पाये जाते हैं। इन्हें उद्यानों की जातियाँ या सबअरबन जातियाँ भी कहते हैं। **ब्रेडिनोपाइगा जेमिनाटा** यहाँ दो जीवन चक्र पूरा करता है।

आभार ज्ञापन

लेखकगण निदेशक, भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता, और डा० ब० सिं० लाम्बा, उप-निदेशक, भारतीय प्राणी सर्वेक्षण विभाग, देहरादून, के आभारी हैं, जिनकी अनुमति और सुविधा से यह कार्य हो सका। साथ ही डा० पु० दा० गुप्ता, उप-निदेशक भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, पटना, के भी आभारी हैं, जो इसके पूरे होने तक अपना सहयोग, प्रोत्साहन व सुझाव देते रहे।

सन्दर्भ

कुमार, अ० 1972. दि फिनोलोजी आफ ड्रैगनफ्लाईज इन दि देहरादून वैली, इन्डिया। ओडोनाटोलोजिका, 1 (4) : 199-207

कुमार, अ० और जुनेजा, ध० पा० 1976. दि ओडोनाटा आफ रेनुका लेक, (वेस्टर्न हिमालया : हिमाचल प्रदेश)। न्यूजले० जूला० सर्वे० इन्डिया, 2 (3) : 95-96.

कुमार, अ० और प्रसाद, म० 1977. ओडोनाटा आफ पाण्डस, टैंक एण्ड पैडी फील्डस ऐट एण्ड एराउन्ड दि देहरादून वैली (वेर्स्टन हिमालया)। न्यूजले० जूला० सर्वे० इण्डिया, 3 (5) : 270-273.

कोर्बेट, पी० एस० 1962. ए बायोलोजी आफ ड्रैगनफ्लाइज । विथरवी । लन्दन से प्रकाशित ।

कोर्बेट, पी० एस० 1964. टेम्पोरल पैटर्न आफ इर्मजेन्स इन एक्वीटिक इन्सेक्टस, कनाडि० एन्टो, 96 : 264–279.

गैम्बलेस, आर० एम० 1960. सिजिनल डिस्ट्रीब्यूशन एण्ड लौगिबिटी इन नाइजेरियन ड्रैगनफ्लाइज । जरनल डब्लू० अफ्रि० साई० एसो०, 6 (1) : 18-26.

फुरटेडो, जे० ई० 1969. इकोलोजी आफ मलेसियन ओडोनेटस बायोटोप, एण्ड एसोसिएसन आफ स्पीसिज । वर्ह० एन्ट० वर० निमनोल०, 17 : 863-887.

संगल, स्व० कु० 1961. मार्फोलोजी एण्ड बायोलोजी आफ क्रोकोथेमिस सरविलिया सरविलिया (डरूरी) (ओडोनेटा : लाईवेलूलिडी) । थीसिस, आगरा विश्वविद्यालय ।

—०—

प्राणि-जगत, 1 : 83-93 (1980)

पौधा-सूत्रकृमि और खेती

सतेन्द्र खेरा

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता *

भूमिका

पौधों पर पलने वाले परजीवी सूत्रकृमि, जिन्हें साधारणः ईलकृमि भी कहा जाता है, हमारे कृषि-जगत में अत्यंत हानिकारक जीव हैं। भारत के प्रत्येक उपजाऊ खेत में ये छोटे-छोटे जीव प्रति वर्ष अधिकाधिक संख्या में बढ़ रहे हैं। राजस्थान में गेहूं और जौ, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश में चावल, असम में चाय, पश्चिम बंगाल में पटसन, नीलगिरि में आलू, मध्यप्रदेश और राजस्थान में नारंगियों, मध्यप्रदेश और पश्चिम बंगाल में केला आदि की उपज प्रति वर्ष इन सूत्रकृमियों के कारण नष्ट होती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में प्रति वर्ष केवल कपास का ही 5.3 करोड़ डालर की क्षति का अनुमान लगाया गया है। भारत में इस प्रकार के आँकड़े अभी तक प्राप्त नहीं हैं, फिर भी कृमियों के कारण बहुत क्षति होती है, जो हमारे खाद्य समस्या प्रधान देश के लिए असहनीय है।

आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ये परजीवी कृमि संसार भर में फैले हुए हैं। देशों के आर्थिक और सभ्यता के क्षेत्र में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। संभवतः आयरलैण्ड के भीषण आलू-अकाल में इनका कुछ न कुछ आंशिक योगदान था, जिसके कारण आयरलैण्ड के लोग बहुत संख्या में संयुक्त राज्य अमरीका के प्रवासी हो गए, जिसमें स्व० राष्ट्रपति केनेडी के पूर्वज भी थे।

सूत्रकृमि

सूत्रकृमि प्रायः जड़ों से संलग्न रहते हैं। ये आकार में बहुत छोटे होते हैं। इनकी औसत लंबाई 1-1.5 मि० मी० होती है। बहुत पतले और पारदर्शी होने के कारण ये कठिनाई से दिखते हैं।

एक जाति के नर और मादा का आकार समान होता है, नर कुछ छोटे होते हैं (चित्र 1)। नर और मादा के पिछले (पूंछ) भाग में थोड़ी सी भिन्नता होती है जो केवल लेन्स द्वारा देखने पर ही स्पष्ट हो सकती है। कुछ गतिहीन जातियों जैसे सिस्ट सूत्रकृमि और मूल-ग्रंथि सूत्रकृमि में उल्लेखनीय लैंगिक द्विरूपता पाई जाती है। मादा कृमियां पौधों के ऊतियों में प्रवेश कर एक ही जगह पर रहती हैं और वृद्धि के दौरान मादा का आकार बदल कर गोल हो जाता है (चित्र 2)। नर सूत्रकृमि का आकार हमेशा ईल जैसा होता है।

---

* वर्तमान पता—प्राणि विज्ञान विभाग, पंजाब विश्व विद्यालय, चन्डीगढ़।

यह लेख लेखक के भारतीय संग्रहालय बुलेटिन, 7 (भाग 2) : 43-49 (1972) में प्रकाशित अंग्रेजी लेख पर आधारित है। चित्रों के ब्लाक भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता, के निदेशक के सौजन्य से।

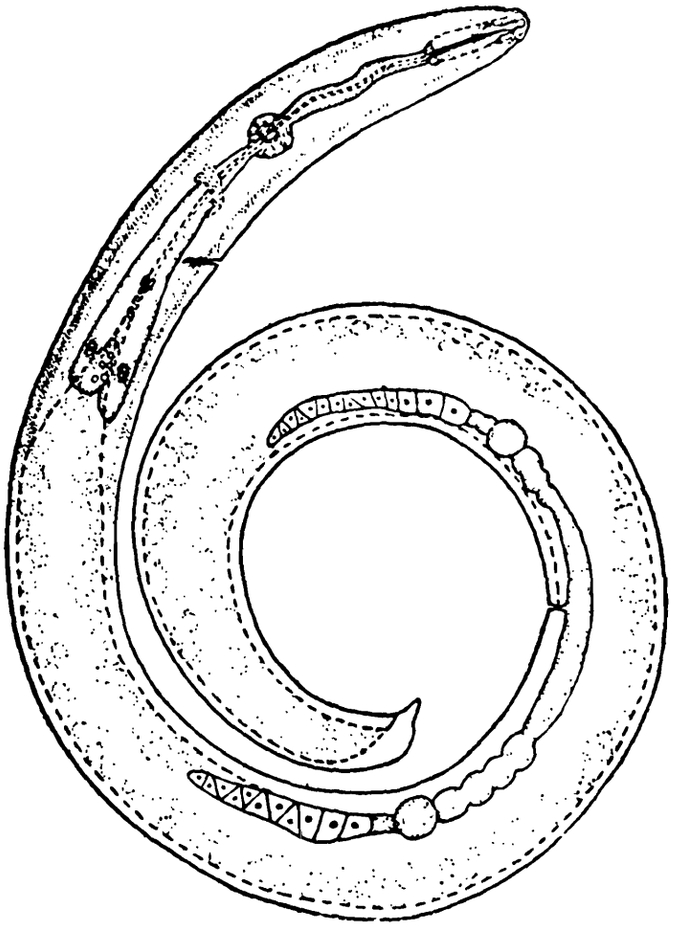

चित्र सं० 1 - पौधा पराश्रयी मादा सूत्रकृमि ।
तुण्ड, आहार-नाल कुप्पी, डिम्बाशय, योनि द्वार, गर्भाशय ।

भोजन-क्रिया

पौधा-परजीवी सूत्रकृमि कलियों, तनों और पत्तियों से भोजन ग्रहण करते हैं, लेकिन बहुत-सी जातियाँ मुख्यत: जड़ों अथवा जमीन के अन्दर बढ़ने वाले भागों से अपना भोजन ग्रहण करती हैं । कुछ जातियाँ, ऊतियों के अन्दर प्रवेश कर भोजन ग्रहण करती हैं जबकि अन्य जातियाँ बाहर रहकर भोजन प्राप्त करती हैं । इन दो प्रकार की भोजन-ग्रहण क्रिया के फलस्वरूप सूत्रकृमियों को अंत: अथवा वाह्य परजीवी कहा जाता है ।

सभी महत्वपूर्ण पौधा–सूत्रकृमियों के अग्र-सिरे पर एक तुण्ड होता है जिसे 'स्टाइलेट' भी कहा जाता है । यह तीक्ष्ण, नुकीली सुई के नुकीले भाग की तरह नली होती है जिसके द्वारा ये पौधों की कोशिकाओं में छेद करके जीवद्रव्य चूसते हैं । आहार-नाल के कुप्पे (बल्ब) के स्फुरण से चूसने की क्रिया सम्पन्न होती है (चित्र 3) ।

ये सूत्रकृमि भोजन प्राप्त करने के लिए कोशिका-भित्ति में छेद करके अपनी 'लार' प्रविष्ट करते हैं। 'लार' में सम्भवतः पाचन-शक्ति को सुधारने वाले एंजाइम्स होते हैं। इसके द्वारा शरीर के बाहर ऊतियों का विघटन (पाचन) होता है जिससे कोशिकाओं के अन्दर का पदार्थ अधिक तरल और इन सूत्रकृमियों के पचाने योग्य हो जाता है। मूल-ग्रंथि सूत्रकृमियों जैसे कुछ गतिहीन परजीवियों में लार कोशिका बनाने में सहायता करती है जिसके बिना ये सूत्रकृमि भूखे मर जाते हैं और फलस्वरूप जड़ों में ग्रंथियां (गांठें) पड़ जाती हैं।

पौधों से भोजन ग्रहण करने वाले अधिकांश सूत्रकृमि इस अर्थ में अनुग्रही परजीवी हैं क्योंकि इनमें से कोई भी सूत्रकृमि कोई अन्य आहार नहीं लेता जबकि इनमें से कुछ तो किसी भी चीज से अपना भोजन ग्रहण कर लेते हैं। ऊंची जाति के पौधों में पाए जाने वाले सूत्रकृमि कवक से भी भोजन ग्रहण करते हैं। अपवाद स्वरूप सिस्ट-सूत्रकृमि को छोड़कर, इन कृमियों से किसी जाति विशेष के पौधे अनुबंधित नहीं हैं, वरन् इनके आश्रयी पौधों में विभिन्न समुदायों के अनेक पौधे होते हैं।

सूत्रकृमि ग्रसित पौधों के लक्षण

जब पौधा-सूत्रकृमि भोजन ग्रहण करते समय पोषक पौधों की ऊतियों से होकर गुजरते हैं, उस समय कुछ यांत्रिक क्षति होती है। यह क्षति अंतः परजीवियों के कारण अधिक होती है, जबकि वाह्य परजीवियों द्वारा कम।

सूत्रकृमियों द्वारा भोजन ग्रहण करते समय पौधों की ऊतियों में स्राव प्रवेश कराने की प्रतिक्रिया के कारण पौधों को अधिक क्षति पहुंचती है। यह स्राव पौधों की ऊतियों को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। जड़ों के सिरों से भोजन प्राप्त करने वाली वाह्य परजीवी सूत्रकृमियों का स्पष्ट प्रभाव जड़ों के सिरों पर वृद्धि स्थान के कोशिका विभाजन रुक जाने से परिलक्षित होता है। जड़ों की लम्बाई में वृद्धि रुक जाती है। कभी-कभी ये जड़ें कुछ मोटी हो जाती हैं (चित्र 4)। इन्हें ठूंठदार जड़ें कहते हैं। प्रायः जड़ों की अधिक शाखाएं अथवा अधिक जड़ें निकलकर इस क्षति की पूर्ति करती हैं। कुछ सूत्रकृमियों की भोजन क्रिया के फलस्वरूप आस पास के ऊतक नष्ट हो जाते हैं और उनमें निर्जीव गांठ पड़ जाती हैं, जो प्रायः बहुत छोटी परंतु कभी-कभी बड़े आकार की भी होती हैं। इससे बहुधा आलू और प्याज की जड़ें तथा जमीन के अन्दर हिस्से सड़ जाते हैं।

मूलग्रंथि सूत्रकृमियों जैसे कुछ गतिहीन परजीवियों में उनके 'सिर' के निकट पौधों की कोशिका-भित्ती नष्ट हो सकती है और आस पास की अनेक कोशिकाएं सम्मिलित होकर "बृहद कोशिका" बना सकती हैं। परजीवी से दूर की कोशिकाओं में अतिवृद्धि हो सकती है जिसके फलस्वरूप सूजन आ जाती है जिसे वृक्षफेन (गाल) कहते हैं। पौधों के भूमि से ऊपरी भागों को ग्रसित करने वाली सूत्रकृमियों की जातियों की संख्या कम है। ऐसी सूत्रकृमियों से हानि के फलस्वरूप कलियाँ और वृद्धिस्थान मृत अथवा मृतप्राय हो

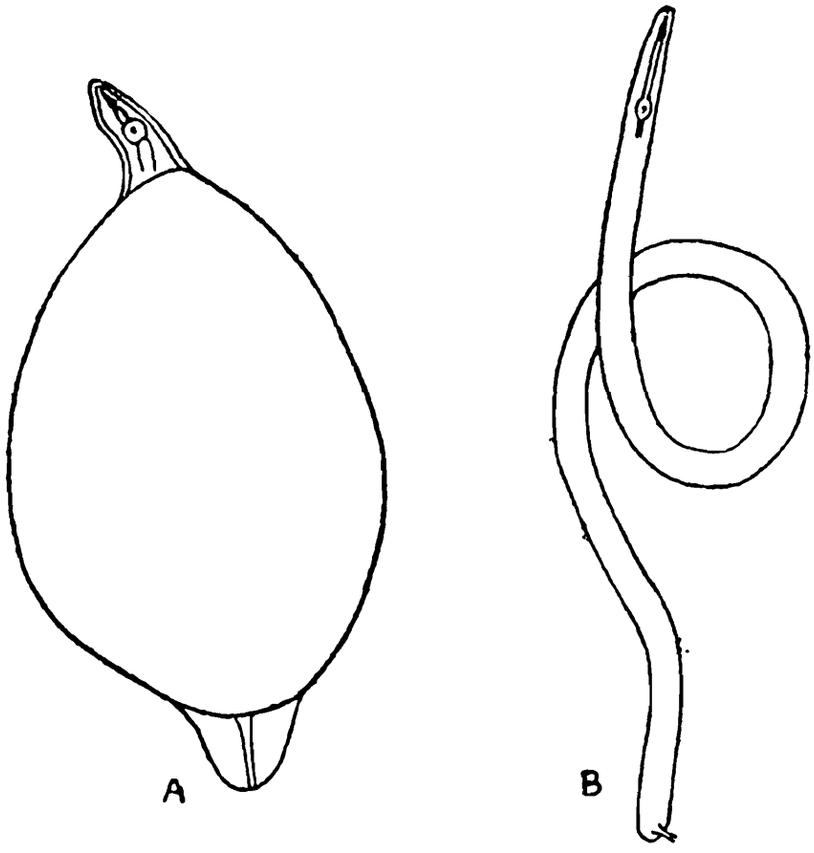

चित्र सं० 2 - A-मादा सिस्ट सूत्रकृमि ।
B-नर सिस्ट सूत्रकृमि ।

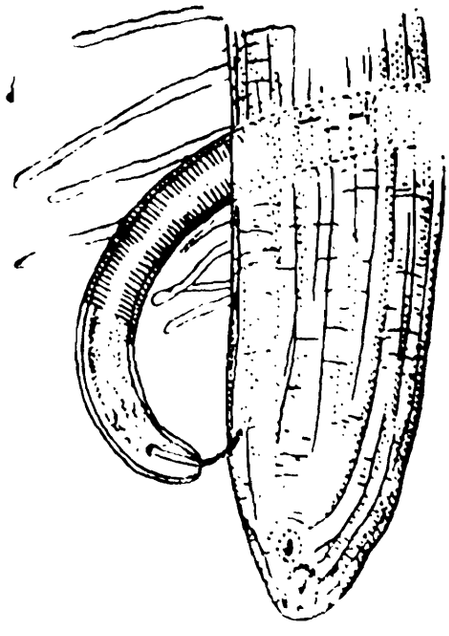

चित्र सं० 3—जड़ से भोजन ग्रहण करता हुआ पौधा सूत्रकृमि ।

सकते हैं। तने आकुंचित और पत्तियाँ विकृत हो जाती है और बीज-फेन (बीजों के गाल) बन जाते हैं। इन सूत्रकृमियों द्वारा हानि के लक्षण सूत्रकृमि और पौधों की किस्मों, उनकी आयु तथा पौधों के ग्रसित भागों पर निर्भर रहते हैं।

संक्रमण चाहे जड़ में हो अथवा ऊपरी भाग में, पौधे शक्तिहीन हो जाते हैं और पानी अथवा उर्वरक की कमी तथा अन्य विपरीत परिस्थितियों को झेलने की शक्ति कम हो जाती है। इन वृक्षों में विशेषत: पत्तियाँ छोटी और रंगहीन हो जाती हैं और अंत में उनके झड़ जाने से पेड़-पौधे नष्ट हो जाते हैं। किसी भी खेत में पौधों के सूत्रकृमि का एक विशेष केन्द्र होता है जहाँ से आस पास के पौधों पर भी असर पड़ता है। इस क्रिया को क्षय-प्रसार कहते हैं।

फफूंद और जीवाणु का योगदान :—इन सूत्रकृमियों के अतिरिक्त मृतिका-जीव जैसे फफूंद तथा जीवाणु भी पौधों को हानि पहुंचाते हैं। इन सूत्रकृमियों द्वारा कमजोर की गई जड़ों पर मृतिका-जीव जैसे फफूंद तथा जीवाणु के आक्रमण के फलस्वरूप सीनरजोस्टिक क्रिया होती है। ऐंग्वाइना ट्रिटिसी और कई प्रकार के अन्य जीवाणुओं के द्वारा गेहूँ में पीला श्लेष्मा रोग का होना सामान्य बात है।

सूत्रकृमि एवं फसलें

गेंहूँ गेगला अथवा ग़ाल सूत्रकृमि ऐंग्वाइना ट्रिटिसी, गेहूँ तथा अन्य अनाज के पौधों में साधारण अन्य दानों के स्थान पर काले फेन (गाल) रूपी गेगला उत्पन्न करते हैं। ये ग्रसित बीज, सूत्रकृमि को एक देश अथवा महाद्वीप से दूसरे देश अथवा महाद्वीप तक पहुंचाने में सहायक होते हैं। इस प्रकार ये सूत्रकृमि विश्वव्यापी हो गये हैं। गेगला में सूत्रकृमियों के हजारों लार्वे बंद रहते हैं। उत्तरी भारत में गेहूँ व्यापारी की दुकानों में गेंहूँ के ढेरों में इन गालों को आसानी से देखा जा सकता है।

कन्द और तना में मिलने वाला डाइटाइलेन्कस डिपसेकाई लूसनी, तिनपतिया, मोथा और नर्गिस, कन्द पुष्प, प्याज और लहसुन जैसे सैकड़ों विभिन्न प्रकार के पौधों के कन्द पर आक्रमण करता है। इस सूत्रकृमि ने इंग्लैण्ड के नर्गिस पुष्प-उद्योग को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया था। डाइटाइलेन्कस डिस्ट्रक्टर नाम की दूसरी जाति आलू की परजीवी है, जो आलू को सड़ा देती है। बंगाल में डाइटाइलेन्कस ऐंगस्टस नाम की एक अन्य जाति चावल में 'यूफ़ा' नामक रोग फैलाती है। जिसके फलस्वरूप फसलों को अत्यधिक हानि पहुंचती है। मध्यप्रदेश के चावल में 'सिरा सफेद होने की बीमारी' पाई जाती है जो एफेलेनक्वाइडिस वीसेई नामक सूत्रकृमि के कारण होती है।

सिस्ट सूत्रकृमि तथा मूलग्रंथि सूत्रकृमि पौधों की जड़ों में पाये जाने वाले दो अन्य महत्वपूर्ण परजीवी हैं। हेटरोडेरा प्रजाति की सुनहरी सूत्रकृमि नामक एक सिस्ट-सूत्रकृमि पेरू से अपने पोषक आलुओं के साथ भारत आई और उससे यहाँ आलू की फसल को गंभीर क्षति पहुंची (चित्र 5)। इस तथ्य का पता नीलगिरि में इस रोग

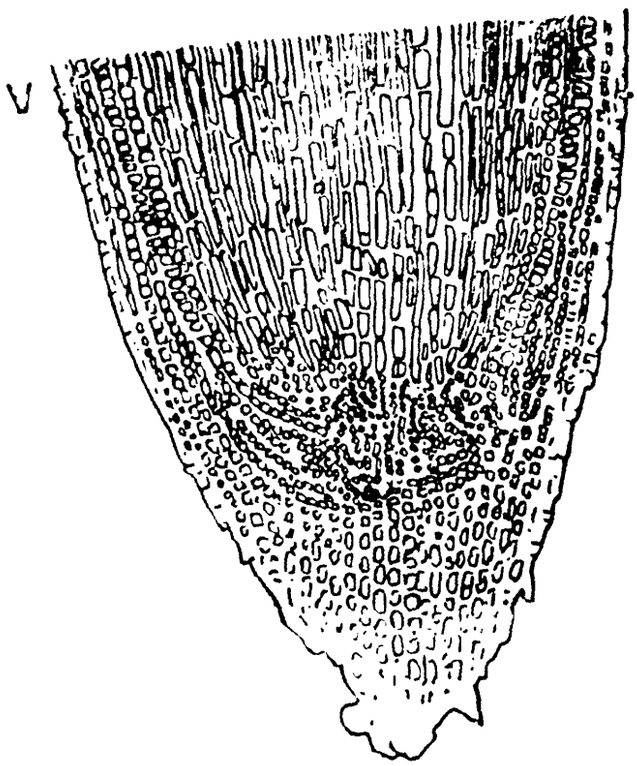

चित्र सं० 4 क - सामान्य जड़ का एक खण्ड ।

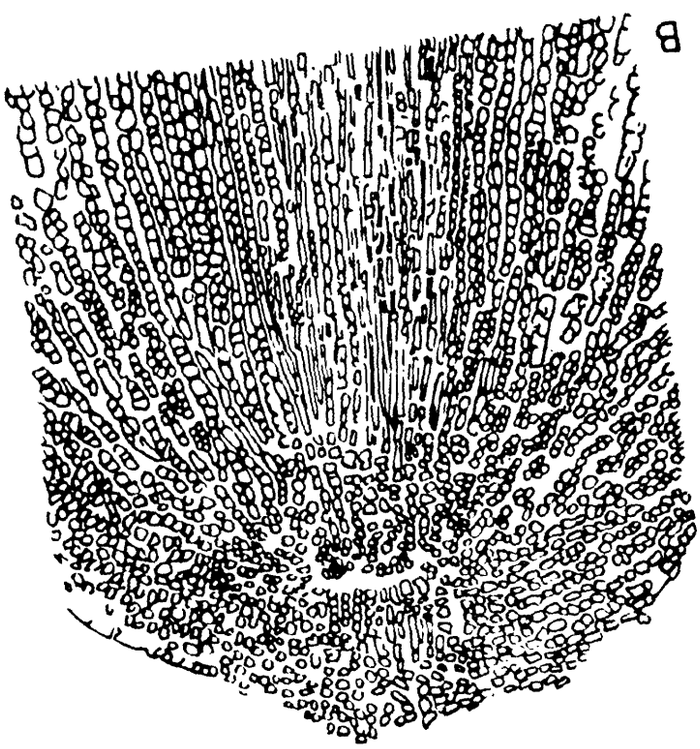

चित्र सं० 4 - ख - ठूंठदार जड़ का एक खण्ड ।

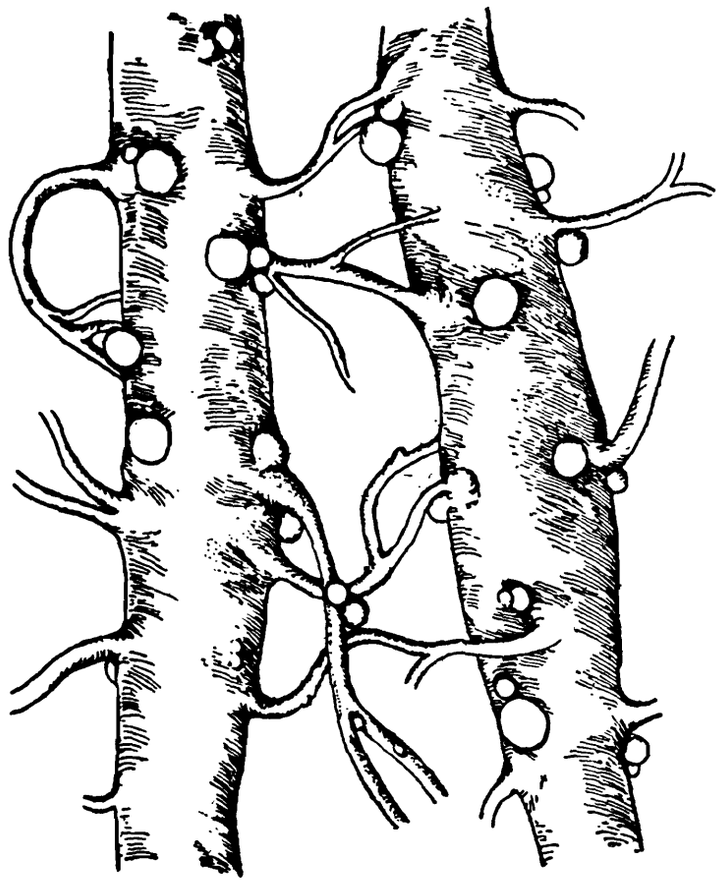

चित्र सं० 5 - आलू की जड़ से चिपकी हुई गोलाकार मादा सिस्ट सूत्रकृमि।

की रोकथाम तथा फैलने के उपायों पर कार्य करने वाले भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान के वैज्ञानिकों ने लगाया है। इन कृमियों की एक जाति चुकन्दर को क्षति पहुँचाती है, जबकि दूसरी जातियाँ मटर और सेम की जड़ों को क्षति पहुँचाती हैं।

हेटरोडेरा की सबसे महत्वपूर्ण जाति हे० एवेनी अनाजों की ईलकृमि है जो गेहूँ, जौ और जई की जड़ों को ग्रसित कर 'मोल्या' नामक रोग फैलाती है। इन कृमियों के लार्वे कोमल जड़ों की वृद्धि को रोक देते हैं और फलस्वरूप इन कृमियों के प्रवेश स्थान के पास जड़ों के चारों ओर गुच्छे की तरह विशिष्ट जड़ें निकलती हैं जो वास्तव में गोलाकार मृत-मादा की अवरोधक देह-भित्ति है। इसके अन्दर अत्यधिक संख्या में जीवित अण्डे और कुछ लार्वे होते हैं। छोटे कोमल पौधों में चौथी पत्ती की नोंक का रंग लाल होने तथा ऋतु के आने पर इस रोग के लक्षण दिखाई देने लगते हैं और दूर-दूर स्थित पौधे प्रायः हल्के पीले-हरे रंग के हो जाते हैं। शुष्क स्थानों में यह क्षति अधिक होती है। राजस्थान में अनाज के ईलकृमि पाए जाते हैं जहाँ पूरा का पूरा खेत नष्ट हो जाता है और यदि प्रत्येक फसल के बाद दो वर्ष अथवा इससे अधिक के लिए खेत को पड़ती न छोड़ा जाए तो ऐसा ही प्रभाव बना रहता है।

मूल-ग्रंथि सूत्रकृमि मेलाएडोगाईन जाति जिस जड़ में रहती है उसमें स्पष्ट फेन (गाल) जैसे उभार पैदा करती है (चित्र 6)। इस समुदाय की सूत्रकृमियों के लिए

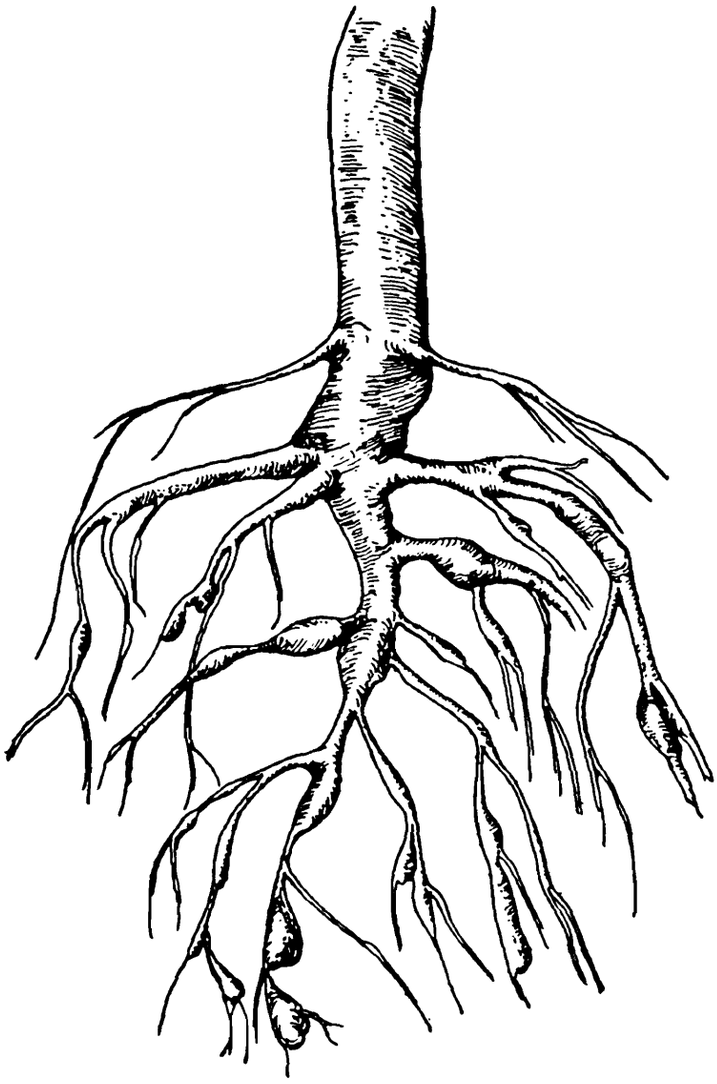

चित्र सं० 6 - मूलग्रंथि सूत्रकृमि के द्वारा जड़ों में गाल का बनना।

1700—1800 पोषकों का उल्लेख है जिसमें खेती की प्रायः सभी फसलें (विशेषकर सब्जियां), बगीचे, फलउद्यान, शोभा वाले और हरे-घरेलू पौधे सम्मिलित हैं (चित्र 7)। इसके द्वारा वार्षिक क्षति अगणित है।

मूलग्रंथि सूत्रकृमियाँ एक समय अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यग्रता का कारण बन गई थीं। 1909 में टोकियो के मेयर ने वाशिंगटन शहर को जापानी चेरी फूलों का संग्रह भेंट किया। संयुक्त राज्य अमरीका में इस संग्रह के पहुंचने पर वहाँ के स्पर्शवर्जन अधिकारियों ने उसकी जड़ों को मूल-ग्रंथि सूत्रकृमियों तथा अन्य हानिकारक कृमियों से ग्रसित पाया और उसको नष्ट करने का आदेश दिया। सन् 1911 के दिसम्बर महीने में सावधानी पूर्वक चुनकर फूलों का दूसरा संग्रह वाशिंगटन भेजा गया। इनसे विस्तृत वृक्षरोपण का विकास हुआ है जो अब वसन्त ऋतु में चेरी-पुष्प मेला के अवसर पर असंख्य पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है।

केवल मूलग्रंथि सूत्रकृमियाँ ही पौधशालाओं (नर्सरी स्टाक) के पौधों द्वारा नहीं फैलतीं बल्कि अन्य जातियाँ भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं। कैलिफोर्निया तथा उससे लगभग 4000 कि० मी० दूर फ्लोरिडा में नारंगी-वाटिकाओं का नीबू सूत्रकृमि **टाइलेन्कुलस सेमीपेनीट्रान्स** द्वारा ग्रसित होना इस बात का प्रमाण है कि सूत्रकृमियाँ पौधशालाओं के पौधों द्वारा फैलती हैं।

अखरोट, चेरी, जामुन, सेब, नीबू, केला और अन्य फल के वृक्षों का धीरे-धीरे क्षय होना, उनकी जड़ों में **प्रेटीलेन्कस, जिफीनेमा, टाइलेन्कुलस, रोटीलेन्कुलस, मेलायडोगाइन, क्रिकोनिमाएडिस** इत्यादि अन्य सूत्रकृमियों का अधिक संख्या में रहने के कारण होता है।

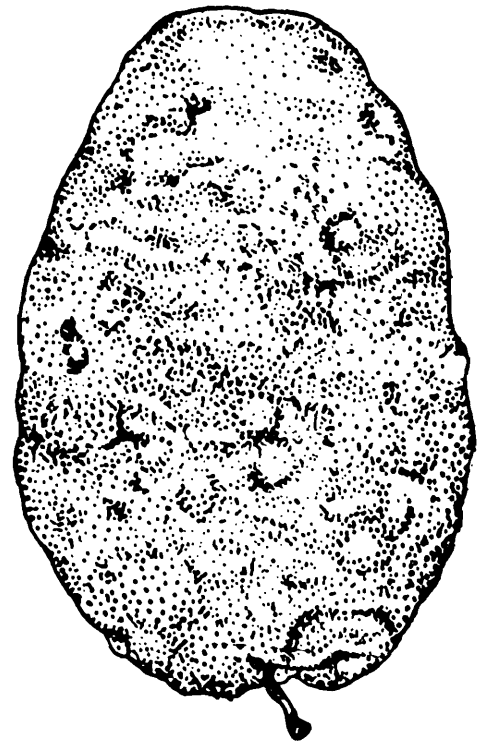

चित्र सं० 7 - मूलग्रथि सूत्रकृमि द्वारा ग्रसित आलू।

प्रेटीलेन्कस ऊतियों को नष्ट करती है जिससे जड़ें काली होकर सड़ जाती हैं। यह सूत्रकृमि ईख, तंबाकू, चना और मकई को भी क्षति पहुँचाती है। **डाईटाईलेन्कस, एफेलेन्क्वाएडिस, और रहैब्डाइटिस** सूत्रकृमियाँ 'छत्रक' की फसलों पर आक्रमण करती हैं। ये संयुक्त रूप से छत्रक को ग्रसित करती हैं और उनके पारस्परिक संबंधों को समझना अभी तक खोज होना बाकी है।

जिफीनेमा, टाईकोडोरस और लांगीडोरस तीन अन्य सूत्रकृमियाँ पौधों के हानिकारक विषाणुओं के वाहक हैं।

नियंत्रण

एक बार जब ये सूत्रकृमियाँ मिट्टी में आ जाती हैं तब उनका उन्मूलन अत्यन्त ही कठिन और खर्चीला होता है। इसलिए इन हानिकारक कृमियों के बारे में "उपचार से निवारण अच्छा" कहावत भलीभांति चरितार्थ होती है। इसमें कठिनाई यह है कि हमारे किसान प्रायः अनपढ़ और गरीब हैं। उनके पास न तो पर्याप्त धैर्य है और न नियंत्रण के उपायों को क्रियान्वित करने के लिए पर्याप्त साधन।

इन सूत्रकृमियों के देश में प्रवेश करने पर उनके प्रवेश स्थान तथा उनके फैलने के केन्द्रों पर पौधा सुरक्षा कर्मचारियों द्वारा स्पर्शवर्जन विधि का अपनाना सबसे प्रथम महत्वपूर्ण कार्य है।

उन्नत फसलों और बीजों को रोपने और बोने से पहले दोषमुक्त कर लेना बहुधा लाभदायक होता है। इनके उपचार पौधों और सूत्रकृमि की जाति के अनुसार बदल जाते हैं। विशिष्ट तापक्रम (जो प्रायः प्रथम दाशमिक स्थान तक निर्दिष्ट होता है) पर गरम जल में डुबा कर रखने से उनसे चिपकी हुई सूत्रकृमियाँ मर जाती हैं और पौधों के अंगों की जीवंतता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रायः निश्चित अनुपात में कुछ रसायन भी निर्दिष्ट समय तक प्रयुक्त लिए जाते हैं, लेकिन यह प्रश्न उठता है कि क्या हमारे किसान ऐसे कीमती उपचारों को करने में मानसिक और आर्थिक दृष्टि से सक्षम हैं ?

जब गेहूं के बीजों को 20% नमक के घोल में डुबाकर रखा जाता है उस समय सूत्रकृमि युक्त गेगले तैरने लगते हैं जिन्हें मलाई उतारने की समान क्रिया द्वारा अलग किया जा सकता है।

सूत्रकृमियों के विनाश के लिए अपनाए गए खेती में प्रयुक्त विभिन्न उपायों में फसल-परिवर्तन ही सबसे प्राचीन, सर्वमान्य तथा किफायती, और भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल है। सूत्रकृमि के पोषक पौधे, और पोषक पौधों की अनुपस्थिति में सूत्रकृमियों के जीवित रहने की क्षमता ही फसलों का चयन करते समय मुख्यतः विचारणीय है।

गर्मी के दिनों में खेतों को पड़ती छोड़ देने से सूत्रकृमियों की संख्या अत्यन्त ही कम हो जाती है। लेकिन खेत को पड़ती छोड़ देना आर्थिक दृष्टि से लाभकारी नहीं है। गमलों और शीशकक्ष में रोपने से मिट्टी को भाप द्वारा शुद्धिकरण से सूत्रकृमियां कम हो जाती हैं परन्तु यह विधि खासकर भारतीय परिस्थिति में खेतों के लिए उपयोगी नहीं हो सकती।

ऐसी धारणा है कि गेंदा और शतावर के पौधे सूत्रकृमियों की संख्या कम तो नहीं कर सकते किन्तु उन्हें दूर अवश्य भगाते हैं। इन पौधों को फसल-परिवर्तन के रूप में उपयोग किया जा सकता है। जो भी हो, इनसे किसानों को आर्थिक लाभ होना संदेह जनक है। यह उल्लेखनीय है कि उत्तर प्रदेश के किसान कभी-कभी गेंदा और गेहूं एकान्तर कतारों में बोते हैं। इसका कारण पूछने पर प्रायः वे यही बतलाते हैं कि इससे

गेहूँ की पैदावार अधिक होती है। ऐसा लगता है कि पौधा-सूत्रकृमियों के आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान के पहले से ही भारतीय किसानों को इनके निरोध के उपाय ज्ञात थे।

फफूंद तथा भक्षक सूत्रकृमियों के द्वारा पौधों की सूत्रकृमियों को नियंत्रित करने के लिए जैविक-निरोधक उपायों का भी अध्ययन हो रहा है। अभी तक इसके परिणाम उत्साहवर्धक नहीं हुए हैं। न्यूनाधिक सफलता के साथ विभिन्न प्रकार के सूत्रकृमि-रोधक पौधों पर कार्य हो रहा है। आलू, लूसर्नी, सोयाबीन, रूई और आड़ू के मामले में उत्साहवर्धक सफलता मिली है। इन रोधक पौधों में सूत्रकृमि या तो प्रवेश नहीं कर पाते अथवा वयस्क नहीं हो पाते या इनका प्रजनन इतना धीमा हो जाता है कि विशेष क्षति नहीं होती। फिर भी समस्या जटिल होती जा रही है क्योंकि इन रोधक पौधों का प्रवर्जन केवल मिट्टी में पाई जाने वाली विशिष्ट सूत्रकृमियों के लिए ही उपयोगी होता है जबकि प्रकृति में अन्य असंख्य हानिकारक सूत्रकृमि, कवक और जीवाणु होते हैं।

पौधों को लगाने से पहले डी० डी०, ई०डी०बी०, डाइब्रोमोमिथेन, डी०बी० सी० पी०, वेपम इत्यादि रसायनों द्वारा विशेष विधि से मिट्टी का शोधन बहुत ही प्रभावशाली पाया गया है, लेकिन फिर भी कुछ समस्याएं हैं। ये रसायन हमारे देश में तैयार नहीं होते। मेरे पास इस संबंध में साहित्य एवं एक विदेशी प्रतिष्ठान के भारत स्थित अधिकारी का एक पत्र है, जिसमें मेरे द्वारा आयात लाइसेंस प्राप्त करने पर मुझे परीक्षणार्थ रसायन भेजने का प्रस्ताव है। मेरी समझ में इनकी कीमतें अत्यधिक हैं। कल्पना कीजिए कि एक किसान जिसे संभवतः अच्छी तरह से दो वक़्त भर पेट भोजन नहीं मिलता हो, क्या वह इन सूत्रकृमियों की रोकथाम करने के लिए आयात लाइसेंस प्राप्त करने के लिए प्रार्थना-पत्र की चार (या शायद अधिक) प्रतियाँ भरकर अपनी जमापूंजी लगाने को तैयार होगा ? सूत्रकृमि-नाशकों का प्रयोग भी एक जटिल प्रक्रिया है। इसके लिए सिस्टेमिक-सूत्रकृमि-नाशक अत्यन्त आवश्यक है।

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली, के सूत्रकृमि विज्ञान विभाग में अनुसंधान तथा परामर्श संबंधी सराहनीय कार्य हो रहे हैं, किन्तु परामर्श सेवाओं के क्षेत्र में राज्यस्तर पर और अधिक कार्य करना वाँछनीय है।

—०—

प्राणि-जगत, 1 : 95-98 (1980)

कीट जगत के हेलीकाप्टर

विश्वम्भर दयाल श्रीवास्तव
भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता

कीट जगत की विचित्रता और विविधता से परिपूर्ण संसार में ओडोनेट कीड़े (व्याध पतंगे) अपने उड़ने की कला एवं कुछ सीमा तक अपने शरीर-रचना के कारण कीट जगत के 'हेलीकाप्टर' कहे जा सकते हैं। ये किसी भी जलस्थल के आस-पास अपने इन्द्रधनुषीय रंगों को झलकाते हुए सहज ही दर्शक का ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। तितलियों की तरह यह कीट जनसाधारण में लोकप्रिय तो नहीं हैं, फिर भी मनमोहक कीटों में तितलियों के बाद स्थान पाने के उचित पात्र हैं। ये सुमद्रतल से लेकर पर्वतों तक कई हजार मीटर की ऊंचाइयों तक सहज ही विचरण करते पाए जाते हैं।

इनका शरीर विभिन्न रंगों से रचित होता है। कुछ तो रंगों की छटा और चमक में इतने सुन्दर दिखाई पड़ते हैं कि सृष्टिकर्ता की रंग विलास की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। किन्हीं जातियों में ये रंग धातुओं की तरह चमक झलकाते हैं। प्रत्येक रंग का समुचित उपयोग प्रकृति ने किया है। भूरे, काले, हरे, नीले, पीले, लाल इत्यादि प्रायः सभी रंगों का सम्मिश्रण इनको सजाने में देखा गया है।

ये कीट शरीर रचना की दृष्टि से भी रोचक हैं। साधारण कीटों की तरह ही इनका शरीर तीन भागों में बंटा होता है—सिर, धड़ और उदर। इनका सिर और धड़ अनुपात में बड़ा और चौड़ा होता है तथा उदर लम्बा और पतला। इसलिए, जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है, ये कुछ-कुछ हेलीकाप्टर से दिखते हैं। इन कीटों में से डैमसेलफ्लाई उपक्रम के सदस्य अपने नाम को चरितार्थ करते हुए क्षीणकाय होते हैं जबकि ड्रैगनफ्लाई उपक्रम (सब-आर्डर) के सदस्य अपेक्षाकृत अधिक दीर्घकाय होते हैं। इन कीटों के उन गुणों का उल्लेख यहां उचित होगा जिनके वजह से ये अन्य कीटों से भिन्नता रखते हैं। प्रथम तो इनके पंखों को प्रचालित करनेवाली मांसपेशियों को ही लीजिए। जहां अन्य कीटों के पंखों का प्रचालन सीधे उनसे संबंधित मांसपेशियों से न होकर धड़ से लगी मांसपेशियों से होता है, वहाँ ओडोनेट कीटों में यह कार्य मुख्यतः पंखों से लगी मांसपेशियों से ही होता है। इस गुण में ये पक्षियों के पंख की प्रचलन क्रिया से समानता रखते हैं। कुछ पक्षियों के समान ये पीछे की ओर उड़ती अवस्था में खिसक सकते हैं, तथा हेलीकाप्टर की तरह उड़ते हुए एक ही स्थान पर स्थिर होकर मंडरा भी सकते हैं। उड़ते समय शरीर के संतुलन को बनाए रखने में इनका सिर सहायता करता है। उड़ते समय ही ये अपने आहार के लिए अन्य सूक्ष्म कीटों को पकड़ने में सक्षम होते हैं। इस कार्य के लिए ये अपने आगे की ओर बढ़े हुए तीन जोड़े पैरों और पैरों के कड़े त्वचा लोमों से बने 'जाल' की सहायता लेते हैं।

ओडोनेट कीट अपने बाहरी प्रजनन-अंगों, और नर-मादा के संभोग के तरीकों, में न केवल कीट जगत से बल्कि अन्य जीव-जन्तुओं के संसार से भी अलग और अनूठे

हैं। साधारणतः सभी कीट वर्गीय सदस्य एवं अधिकांश जीव-जन्तु अपने शुक्रकीट को संभोग के समय ही मादा के योनिद्वार के अन्दर प्रवेश कराते हैं। इन में यों तो साधारण रूप से ही उदर के नवें खण्ड के नीचे शुक्रकीट निकलने का द्वार होता है परन्तु इन कीड़ों में संभोग के समय शुक्रकीट सीधे नहीं पहुँचाये जाते हैं। संभोग के पहले नर अपने उदर के नवें खन्ड को मोड़कर शुक्रकीट को अपने दूसरे एवं तीसरे खण्ड के नीचे स्थित संभोग अंगों तक पहुँचाते हैं। संभोग के समय यहीं से शुक्रकीट मादा के योनिद्वार के अन्दर प्रवेश कराये जाते हैं।

जल के ऊपर या आसपास नर मंडराते रहते हैं। इस स्थल पर मादा का आगमन इनमें संभोग के लिये होड़ लगा देता है। प्रथम नर मादा के सिर को अपने उदर के पार्श्व में स्थित अंगों से पकड़ लेता है और मादा अपने उदर के प्रजनन खण्ड को झुका कर नर के प्रजनन अंगों के सम्पर्क में लाती है। इसके बावजूद भी नर-मादा पूर्व स्थिति में होकर उड़ सकते हैं। इस स्थिति में नर मादा के सिर को पकड़े हुए आगे और मादा पीछे रहती है। इस अवस्था को टैनडम कहा जाता है। संभोग के बाद ये अपने अण्डे जल में देती हैं। जल में ही ये पनपते हैं। इनके अण्डे गोल या कुछ चपटे होते हैं। एक मादा 800 अण्डे तक देती देखी गई है। इनके अण्डे देने के दो तरीके हैं। कुछ सदस्य अपने अण्डों को सीधे पानी में उड़ते-उड़ते ही उदर को पानी की सतह पर झुकाते हुए देते हैं। इस तरीके को एक्सोफायटिक कहा जाता है। इसके विपरीत एनडोफायटिक तरीके से ये अपने अण्डों को पानी के पेड़ों या तैरते हुये सड़े–गले वानस्पतिक पदार्थों के अन्दर देती हैं। इसके लिये इनके उदर का पिछला भाग इस कार्य को समुचित रूप से सम्पन्न करने के लिये बना होता है। इनमें से प्रथम तरीका विकास श्रंखला में अधिक उन्नत माना जाता है। इस तरीके से अण्डे देती हुई मादा को अपने दुश्मनों से खतरा भी कम रहता है। दूसरे तरीके में अण्डे देते समय इनको पेड़ पर बैठना आवश्यक है। इस अवसर का लाभ उठाकर जल के कुछ अन्य जन्तु, जैसे मछलियां, मेढक, इन्हें अपना ग्रास बना लेते हैं।

जीवन चक्र में अण्डे के बाद लारवा की अवस्था का आरम्भ होता है। इसके लिये इन्हें अण्डों के आवरण से बाहर निकलना पड़ता है और यदि अण्डे पेड़ के तन्तुओं में दिये गये हों तो उससे भी निकलकर पानी तक पहुंचना रहता है। इस प्रकार से निकले लारवा के प्रथम चरण को प्रोनिफ या प्रोलारवा कहते हैं। जीवन-चक्र में इनकी अवधि कुछ क्षणों से लेकर कुछ मिनटों की होती है। इनके चारों तरफ एक पतली झिल्ली का आवरण होता है। प्रोलारवा स्वयं तैर नहीं सकते फिर भी या तो रेंग कर या फुदक कर पानी तक पहुंच पाते हैं।

इसके बाद प्रोलारवा की झिल्ली फाड़कर प्रथम लारवा निकलता है। इन कीटों का अधिकांश भाग इन्हीं लारवा की विभिन्न अवस्थाओं में व्यतीत होता है। प्रथम लारवा पानी में स्वतन्त्र रूप से अपना जीवन व्यतीत करने में सक्षम होता है। यह पानी में तैर सकता है, सांस ले सकता है और जीवन की अन्य क्रियाओं को भी सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकता है। प्रथम लारवा के मध्यपेट में संचित खाद्य पदार्थ इनके लिए

काफी होता है। इस लारवा का जीवन काल भी अल्पकालीन होता है। इनके बाद के शनैः शनैः बढ़ते हुए लारवों की विभिन्न अवस्था में ही जीवन-चक्र का अधिकांश भाग व्यतीत होता है। ये शरीर-रचना तथा जीवन-प्रणाली में अपने प्रौढ़ अवस्था के उड़ने वाले कीटों से पूर्णतया भिन्न होते हैं। ये देखने में न तो उतने सुन्दर होते हैं और न ही उतने चुस्त होते हैं। इनकी इतनी भिन्नता की वजह से सत्रहवीं शताब्दी तक तो इन्हें स्वतन्त्ररूप से अलग अलग चित्रित और वर्णित किया जाता था। जान स्वामरडम नामक एक डच प्रकृति-वैज्ञानिक ने जब अपने 1669 के प्रकाशन में कीटों के जीवनचक्र में होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख किया तो पता चला कि लारवा इन ओडोनेट कीटों के जीवन-चक्र का ही एक अभिन्न भाग है। इनके रंगों में अपेक्षाकृत विविधता और चमक भी कम होती है। अधिकतर जाइगोपटेरा के लारवा अपने प्रौढ़ों के समान ही पतले तथा कोमल होते हैं। इसके विपरीत एनाइसोप्टेरा के लारवा अपने प्रौढ़ों के अनुरूप ही लम्बे, चौड़े तथा सख्त त्वचा के होते हैं।

लारवा का प्रौढ़ों में परिवर्तित होना प्रकृति का एक अनूठा चमत्कार है। जब लारवा अपनी पूर्णावस्था प्राप्त करते हैं तो उन्हें अन्तिम अवस्था के लारवा के रूप में जाना जाता है। यह कई तरह के अन्तः तथा बाह्य परिवर्तनों से गुजरता है। इस परिवर्तन को मेटामारफोसिस कहते हैं। इस क्रिया के फलस्वरूप ही लारवा का प्रौढ़ों में परिवर्तन होता है। अधिकतर यह क्रिया रात्रि के अन्धकार में होती है। कई लारवों से एक ही समय प्रौढ़ कीट निकलते हैं इसलिये इस क्रिया को सामूहिक निकास कहते हैं। इस निकास के लिये लारवा जल के बाहर किसी पेड़, पत्थर आदि का सहारा लेकर जम जाते हैं। लारवा की त्वचा सिर और धड़ के ऊपर से अंग्रेजी के 'टी' अक्षर के रूप में फटती है। तत्पश्चात प्रौढ़ का सिर, धड़ तथा पैर बाहर आते हैं। कुछ समय के बाद उदर भी बाहर आ जाता है। इस अवस्था में कुछ देर निष्क्रिय रहकर ये अपने पंखों को शनैः शनैः खोलकर तेजी से फड़फड़ाते हुये अपने सहारे पर ही कुछ दूर चलकर हवा में उड़ने लगते हैं।

इस तरह से इन कीटों का जीवन-चक्र प्रथम तो जल में, फिर हवा में व्यतीत होता है। जीवन-चक्र का केवल 1/20 भाग ही प्रौढ़ अवस्था में व्यतीत होता है। इसके विपरीत 19/20 भाग इनका जल में अण्डे, प्रोलारवा और लारवा के रूप में व्यतीत होता है। इसी कारणवश इन कीटों का जल के प्रति लगाव या मोह स्वाभाविक ही है। कुछ ओडोनेट कीट अपने जीवन-चक्र को एक वर्ष के अन्दर पूर्ण करते हैं—इन्हें यूनीवोलटाइन कहते हैं। यदि ये एक वर्ष में दो जीवन-चक्र पूर्ण करते है तो बाइवोलटाइन की संज्ञा दी जाती है। कुछ सदस्य अपने जीवन-चक्र को दो वर्षों में पूर्ण कर पाते हैं तब इन्हें सेमीवोलटाइन कहा जाता है।

पूरे संसार में अब तक इन कीड़ों की तीन मुख्य उपक्रमों—जायगोप्टेरा, एनाइसोजायगोप्टैरा एवं एनाइसोप्टैरा, के प्रायः तीस वंशों के अर्न्तगत लगभग छः हजार जातियां पाई जाती हैं। भारतवर्ष में ही लगभग चार सौ पचास जातियों का उल्लेख अब

तक प्रकाश में आया है। इन कीटों के एनाइसोजायगोपटैरा उपक्रम के अन्तर्गत जीवित रूप में केवल दो जातियों का उल्लेख मिलता है। इनमें से एक तो अपने ही देश के पूर्वी हिमालय की गोद में तथा दूसरी जापान में पाई जाती है। इनकी संख्या अब बहुत कम होती जा रही है इसलिये यदि इन्हें समुचित रूप से सुरक्षित न रखा जा सका तो ये अपने समूह के अन्य बन्धुओं की तरह ही काल के गर्त में विलीन हो जायेंगे।

इन कीटों का महत्व जाने बिना ज्ञान अधूरा ही रह जाएगा। प्रकट रूप में ये न हमें लाभ पहुँचाते हैं और न ये हम लोगों के खेती, जंगल, बागान आदि को नुकसान ही पहुँचाते हैं। ये पानी के माध्यम और आसपास की खेती पर उड़ने वाले कीड़े-मकोड़ों को खाते हैं। इसलिये पूरे जलीय वातावरण को ध्यान में रखा जाए तो इनका महत्व कम नहीं है। जहां ये प्रौढ़ अवस्था में कई प्रकार के कीटों का भक्षण करते हैं वहीं लारवा की अवस्था में मछलियों के बच्चों को खा जाते हैं। इसी अवस्था में ये बहुत संख्या में स्वयं मछलियों का भोजन भी बनते हैं। इसलिए मत्स्यपालन में मछलियों के भोजन के रूप में इनका सदुपयोग किया जा सकता है। इनके अण्डे देने के एनडोफायटिक तरीकों से पानी के पेड़ों को भी कुछ नुकसान होने का उल्लेख मिलता है।

——

प्राणि-जगत, 1 : 99—100 (1980)

क्या राजस्थान में कभी समुद्र था ?

पुरुषोत्तम दास गुप्ता
भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, गंगा समभूमि क्षेत्रीय केन्द्र, पटना (बिहार)

राजस्थान, जो तपती हुई रेत के समुद्र से पटा पड़ा है, जहाँ पानी के बिना प्रायः अकाल पड़ता रहता है, जो दूर-दूर से पानी भर कर लाती हुई सुन्दरियों के लिए सदियों से प्रसिद्ध है, ऐसे स्थान पर समुद्र की कल्पना करना किसी पागल की व्यर्थ बकवास के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? किन्तु कुछ व्यक्तियों की धारणा आपकी मान्यताओं को झूठा बतलाने में काफी सक्षम है। चौंकिये नहीं, यह ध्रुव सत्य है कि राजस्थान के कुछ पश्चिमी जिले निश्चय ही समुद्र के नीचे थे। इस विचारधारा की सत्यता प्रगट करने के लिये कुछ प्राणिशास्त्रियों तथा भूगर्भशास्त्रियों के कठिन परिश्रम एवं शोध से अकाट्य प्रमाण मिले हैं।

प्रायः पिछली एक शताब्दी से वैज्ञानिकों ने अथक परिश्रम द्वारा अनेक स्थानों पर उत्खनन कर ऐसे जीवाश्मों का पता लगाया है जिनसे यह सिद्ध होता है कि उन स्थानों पर निश्चय ही कभी समुद्र था। जीवाश्म क्या होते हैं ? आपने कभी कीचड़ भरी जगह में मनुष्य या अन्य प्राणियों के पैर या अन्य भाग के निशान पड़े अवश्य देखे होंगे। क्या आपने साँचों में ढली मूर्तियाँ देखी हैं ? यह सर्वविदित है कि इन मूर्तियों को बनाने के लिए कलाकार को एक सांचा बनाना पड़ता है जिसमें प्रस्तावित मूर्ति का बिल्कुल उल्टा रूप रहता है। मूर्ति का दांया भाग सांचे का बाँया भाग होता है। जिस स्थान पर मूर्ति में जितना उभार होता है सांचे में ठीक उतना ही गड्ढा होता है। प्रकृति भी एक कुशल कलाकार है। वह भी सांचे में मूर्तियां ढालती है तथा कभी-कभी मूर्तियों के ऊपर मिट्टी इत्यादि जमा करके सांचा बनाती है। पाठकों ने अपने दैनिक जीवन में पुस्तकों के बीच में दबे हुए किसी कीड़े या पतिंगे को अवश्य देखा होगा। शायद बहुत दिनों से बन्द दरवाजे को खोलने पर मकड़ी, छिपकली या किसी अन्य जानवर को तोड़-मोड़ की विभिन्न मुद्राओं में दरवाजे या चौखट से चिपके भी देखा हो।

वैज्ञानिकों की परिभाषा के अनुसार ऐसे निशान, सांचे या ढले हुए भाग तथा जानवरों के अवशेष जिनसे पुरातनकाल में पाए जाने वाले प्राणियों का बोध हो 'जीवाश्म' कहलाते हैं। जानवरों के भाग यदि स्वयं मिलें तो ऐसी अवस्था में उनके अंगों के तंतुओं का खनिज पदार्थों में बदल जाना ही जीवाश्म बनने की चरम अवस्था है।

जीवाश्मों द्वारा हमको निम्नलिखित बातों का पता चलता है :—

(1) किसी स्थान पर पाए जाने वाले प्राणी अपने वातावरण का अनुमान कराते हैं।
(2) भूमिगत परतों की विभिन्न गहराइयों में पाए जाने वाले जीवाश्म पुराने समय में होने वाले परिवर्तन तथा विकासक्रम का परिचय देते हैं।
(3) कुछ प्राणियों के शरीर में कुछ निश्चित पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार अपने वातावरण का परिचय कराने के साथ ही साथ पुराने समय में किसी स्थान पर एकत्रित

खनिजों को बतलाते हैं। इस तरह के जीवाश्मों को सूचक जीवाश्म कहते हैं। यह विधि पेट्रोल का पता लगाने में विशेष रूप से अपनाई गई है।

जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर इत्यादि जिलों से तारामछली, समुद्री साही, समुद्री सीप तथा अन्य सूक्ष्म प्राणियों के जीवाश्म एकत्रित किए गए हैं। यह प्राणी केवल समुद्र में ही पाए जाते हैं। कुछ प्राणी भूमि के काफी नीचे दबे हुए पाए गए हैं, किन्तु जैसलमेर के रामगढ़ कस्बे के आसपास रेतीले मैदान में ऊपर ही एककोशीय फोरामिनीफेरा ऐसे पड़े हैं जैसे पृथ्वी की सतह पर उनकी एक पर्त जमा हो गई हो। जैसलमेर के आस-पास पीले पत्थर कीपहाड़ियों में यह जीवाश्म ऐसे फंसे पड़े हैं कि उन पत्थरों को चिकना करने पर पच्चीकारी की विभिन्न कलाकृतियां साफ दिखने लगती हैं। यदि आप कभी जैसलमेर जाएं तो इस तरह के पत्थरों से बने मकानों को देखकर आधुनिक पच्चीकारी का धोखा मत खाइएगा।

एक बात और। साधारण वर्ग के मनुष्य अपनी संपदा की गिनती सैंकड़ा या हजार में करते हैं। धनी लोग लाख या करोड़ में करते हैं। इसी प्रकार साधारण मनुष्य द्वारा तथा वैज्ञानिकों द्वारा इन जीवाश्मों की उम्र का पता लगाने की इकाइयों में बहुत अन्तर है। हम काल गणना के लिए एक-दस-सौ वर्ष की बात करते हैं। यदि बहुत पुरानी बात है तो गिनती हजारों वर्ष तक पहुंच जाती है। वैज्ञानिकों की दुनिया निराली है। वे काल की गणना में एक लाख वर्ष को बहुत तुच्छ समझते हैं। उनकी बात हमेशा 10 लाख (मिलियन) वर्षों की इकाई में होती है। इस गणना के अनुसार राजस्थान के पश्चिमी जिले प्राय: 30-45 मिलियन वर्ष पहले समुद्र के गर्भ में थे। वैज्ञानिक इस तथ्य को इस तरह कहते हैं जैसे ये समुद्री प्राणी वहां कल ही पाए जाते थे।

वैज्ञानिक कहते हैं कि जैसलमेर कल समुद्र में डूबा था किन्तु वहां के नागरिकों के मतानुसार यह सब अनर्गल बकवास है। उसके पूर्वज तो उसको जैसलमेर के आस पास पानी का अकाल और पानी के लिए लड़ाइयों के किस्से बतलाते हुए स्वर्ग पहुँच गए, और आज के जैसलमेर के आसपास के ग्रामों के निवासियों के पास पानी के नाम रोने को आंसू भी नहीं हैं। हर समस्या का कोई समाधान अवश्य होता है। जैसलमेर जैसे शुष्क प्रदेश में नहरों या नल-कूपों द्वारा पानी प्राप्त कराने के लिये मनुष्य अकथनीय प्रयत्न में लगा है। इस दिशा में काफी सफलता मिल चुकी है तथा आगे और अधिक प्रयत्न हो रहे हैं।

—००—

प्राणि-जगत, 1 : 101—102 (1980)

संक्षिप्त रचनाएँ (1) :

व्याधपतंगे - भक्षक और भक्ष्य

कीट जगत की गरिमा अपार है। संख्या में प्राणि जगत का प्रायः पचहत्तर प्रतिशत भाग इन्हीं कीटों का है, जिनमें कुछ बहुत ही आकर्षक व मनोरंजक होते हैं। व्याधपतंगों को बोलचाल की भाषा में जुलाहा व त्योड़ा तथा अंग्रेजी में ड्रेगनफ्लाई कहते हैं। इनको कीट जगत का आकर्षक और मनोरंजक जीव कहना कुछ अतिशयोक्ति न होगी। यह ऐसा कीड़ा है जो अपना परिचय मानव समाज के छोटे-बड़े सभी को स्वयं ही दे देता है। वैसे तो प्राणिवैज्ञानिकों को तरह-तरह के जंतुओं का संग्रह करने की कुछ प्रवृति-सी हो जाती है, पर जितना आनन्द उन्हें व्याधपतंगा पकड़ने में मिलता होगा उतना शायद ही किसी अन्य को पकड़ने में। प्रायः देखने को मिलता है कि छोटी-छोटी उम्र के बच्चे व्याधपतंगों के उदर में, जिसे वे पूंछ कहते हैं, पतला धागा बांध कर खुले आसमान की सैर कराते हुए अद्भुत आनन्द पाते हैं। इस प्रकार इस जुलाहे से प्रायः सभी छोटी उम्र से ही परिचित होते हैं, अतः इसके आकार–प्रकार से अवगत कराना आवश्यक नहीं है।

व्याधपतंग बहुत से जीवों का—कुछ के लिए लार्वा, कुछ के लिये लार्वा और वयस्क, तथा कुछ अन्य के लिए केवल वयस्क अवस्था में भोजन बनता है और स्वयं जैसा नाम से स्पष्ट है छोटे-बड़े अनेक प्रकार के कीड़ों जैसे मच्छर, पतिंगा, तितली तथा छोटे-छोटे गुबरैले आदि का शिकार करता है। कभी-कभी व्याधपतंगे अपने वर्ग और गण में भी एक दूसरे के भक्षक अथवा भक्ष्य होते हैं ! इस संदर्भ में कुछ वयस्क व्याधपतंगों के मेरे निरीक्षण इस प्रकार हैं :—

18 अगस्त 1975 को प्रातः 9 बजे मैं संतरागाछी रेलवे स्टेशन (हावड़ा से 8 कि० मी० दक्षिण पश्चिम) के पास दो जलाशयों के बीच के रास्ते से जा रहा था। इस स्थान पर व्याध पतंगों की अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। वहां मुझे लाईबेल्यूलिडी वंश की एक प्रजाति ब्रैकीथीमिस कन्टेमिनेटा काफी संख्या में देखने को मिले। ये अपेक्षाकृत आकार में छोटे होते हैं एवं इनके नर के पंख अग्रभाग के अलावा हल्के पीले रंग के होते हैं। मैंने देखा कि एक आकार में बड़ा तथा शरीर का कठोर गोम्फिडी वंश का सदस्य इक्टिनोगोम्फस रैपेक्स जो नर था, ब्रैकीथीमिस कन्टेमिनेटा नर के अग्रवक्ष को पकड़े हुए एक झाड़ी की टहनी पर बैठा था। दोनों पतंगों के पंख फैले हुए थे। ब्रैकीथीमिस का उदर भाग असहाय अवस्था में लटक रहा था। थोड़ी देर पश्चात अचानक किर-किर सी आवाज सुनाई दी जो कई बार दुहराई भी गई। यह आवाज शिकारी जुलाहे के दाँतों द्वारा शिकार जुलाहा के बाह्य त्वचा–पंजर को चबाने की आवाज थी।

दो अन्य निरीक्षण सिनाग्रीडी वंश के स्यूडाग्रिआन डेकोरम जाति से संबंधित, ग्राम-महासो, जिला आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश) के हैं। 7 अक्टूबर 1976 को 2-3 बजे

दोपहर को एक धान के खेत में एक स्यूडाग्रिआन डेकोरम का नर एक वयस्क मक्खी को मुंह में पकड़े खाने की चेष्टा में था। मैंने दो उंगलियों के सहारे जुलाहे को पकड़ कर मार डाला। परिणाम यह हुआ कि मक्खी का सिर व एक पंख जुलाहे के मुंह में और शेष भाग बाहर ही रह गया। ये दोनों नमूने भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता के संग्रह में हैं। उसी स्थान पर कुछ समय पश्चात पुनः स्यूडाग्रिआन डेकोरम का एक नर एफिमेराप्टेरा आर्डर के एक कीट को उड़ान की अवस्था में ही शिकार करता पाया। शिकार पकड़े हुए ही जुलाहा धान के पौधे पर बैठ गया और इसे भी मैंने पहले की भांति उंगुलियों के सहारे पकड़ लिया। ये भी भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता के संग्रह में सुरक्षित हैं।

इसके अतिरिक्त मेरा एक और निरीक्षण है जिसमें जुलाहे की भक्ष्यावस्था का विवरण है। यह भी उत्तर प्रदेश के उसी स्थान पर जुलाई, 1976 में किया गया। 23 जून 1974 को मैंने एक गोम्फिडी वंश के सदस्य साइक्लोगोम्फस हेटेरास्टाइलस जाति के नर को पकड़ा था। अध्ययन के बाद यह ज्ञात हुआ कि इस जाति की मादा अब भी अज्ञात है। जुलाई 1976 में मुझे वहाँ पुनः जाने का अवसर प्राप्त हुआ। इस बार बहुत प्रयत्न के पश्चात भी उस जाति के जुलाहे नहीं दिखाई दिये। संयोगवश 17 जुलाई को प्रायः 3 बजे सायंकाल अपने दरवाजे पर बैठा था कि एक जुलाहे की पंख जैसी आवाज सुनाई दी। मैंने देखा कि करीब 10 मीटर की दूरी पर हाइमेनोप्टेरा आर्डर के एक हड्डा (वास्प) ने साइक्लोगोम्फस हेटेरोस्टाइलस के एक नर जुलाहे को पकड़ लिया है और वह अब उसके अग्रवक्ष को पकड़े जमीन पर लोट-पोट हो रहा है। करीब एक मिनट तक उनके संघर्ष को देखता रहा, दूसरी ओर सावधान था कि मेरी उपस्थिति से दोनों ही कहीं भाग न जाएं। हमारे राष्ट्रीय प्राणी संग्रह में इस जाति का नर केवल एक ही है, जिसे मैं जून 1974 में यहीं से पकड़ कर लाया था। अतः बहुत सावधानी से एक पतली लकड़ी के सहारे जुलाहे के उदर भाग को जमीन पर धीरे से दबाया और पकड़ लिया। इतने में हड्डा भाग चला। थोड़ी देर बाद निरीक्षण करने पर देखा कि नर जुलाहे के समागम अंग के पास एक उभार है। निश्चय ही यह हड्डे के विष का परिणाम कहा जा सकता है। हड्डा अपने डंक द्वारा जुलाहे को विषाक्त कर संभवतः अचेत करना चाहता था।

दो तीन अन्य अवसरों पर मैंने हड्डों द्वारा जुलाहों को उड़ान की अवस्था में ही उनका पीछा करते हुए देखा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस समय हड्डों के डर से ही, जो बहुलता में थे, सायंकाल के अतिरिक्त जुलाहे बहुत कम दिखाई देते थे।

इस प्रकार देखा जाए तो जीवन संघर्षमय है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए हर जीव शिकार का प्रेमी होता है—कभी शौकवश और कभी पेट भरने के लिए। साथ ही कभी उसको दूसरे का शिकार भी बनना पड़ता है। वास्तव में शिकार (भक्ष्य) व शिकारी (भक्षक) का विधान प्रकृति का एक नियम है।

राजाराम

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग,
कलकत्ता।

प्राणि-जगत, 1 : 103—104 (1980)

संक्षिप्त रचनाऐं (2) :

सांप और उसकी कंचुल

प्राणि-जगत में एक महत्वपूर्ण एवं विविध भूमिका सर्पों की रही है। सर्पों के शल्क (स्केल्स) की बनावट का अध्ययन डिटमार्स (1957) और बैलर्स (1970) ने किया है। सर्पों के पृष्ठ तथा पार्श्व भाग अनेक छोटे-छोटे श्रैणिक अतिछादी शल्कों से ढंके रहते हैं। पृथ्वी की ओर की सतह पर ये शल्क बहुत चौड़े हो जाते हैं, जिन्हें वैन्ट्रल्स कहते हैं। सिर के ऊपर मिलने वाले शल्क भी बड़े होते हैं जो एक दूसरे को ढंके रहते हैं। इन्हें वर्म शल्क या शील्ड कहते हैं। इन सभी शल्कों के एक दूसरे से मिलने से सर्प शरीर का जो बाहरी आवरण बनता है, तथा शरीर को भी जो पूर्णतः ढंके रखता है उसे केंचुल या शीथ कहते हैं। सर्प एक वर्ष में तीन या चार बार अपनी केंचुल बदलता है। प्रौढ़ सर्प की अपेक्षा सर्प के छोटे बच्चे केंचुल जल्दी बदलते हैं। केंचुली निकल जाने पर शरीर की त्वचा के साथ नेत्रों की त्वचा भी बदल जाती है। केंचुली छोड़ने के पूर्व सभी सर्प निष्क्रिय निद्रालु तथा कमजोर हो जाते हैं तथा इस समय इनकी गति धीमी हो जाती है और नेत्रों से इन्हें कम दिखाई पड़ने लगता है। सर्पों के नासा छिद्र, सिर के अगले सिर पर होते हैं, किन्तु इनके नेत्र गोल होने कारण इनमें पलकों का पूर्णतया अभाव रहता है। प्रत्येक नेत्र एक पारदर्शी शल्क द्वारा ढंकी रहती है। केंचुल के शरीर से निकलने के कुछ पूर्व यही पारदर्शी शल्क अपारदर्शी (ओपेक) हो जाती है, जिससे केंचुल बदलने के पहले सर्प अन्धे हो जाते हैं। सर्पों के नेत्र पलकों के न होने से सदैव खुले रहते हैं।

ग्रीष्मऋतु में एक निरीक्षण के दौरान लेखकों द्वारा एक विषधर (कोबरा) सर्प देखा गया जो कि धीमी गति से सरक रहा था और उसके शरीर पर सफेद आवरण (केंचुली) थी। सर्प दीवार के किनारे पहुँच कर उस पर चढ़ने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु दीवार पुरानी थी अतः ईंटों के बीच की मिट्टी गिर जाने के कारण ईंट के जोड़ों में काफी अन्तर था। ईंटों के इसी अन्तर के सहारे सर्प दीवार पर चढ़ गया और आगे सरकने लगा। लगभग एक फुट रेंगने के बाद सर्प ने अपना सिर ऊपर की ईंट की ओर झुकाया और ईंट का ही सहारा ले आगे की ओर सरकने लगा। देखते-देखते उसकी केंचुली धीरे-धीरे पीछे छूटती गयी और वह सर्प आगे रेंगता चला गया पूरा आवरण शरीर से निकलने पर सर्प थोड़े हल्के झटके से रेंगा जिससे सर्प की पूरी केंचुली ईंटों के बीच के अन्तर में ही रह गयी। केंचुली बदलने के पश्चात सर्प दीवार से जमीन पर नीचे आ गिरा। गिरने के पश्चात उसकी शक्ति और गति में तेजी देखी गई। बाद में कोबरा सर्प की छोड़ी हुई केंचुल प्राप्त कर उसका प्रयोग शाला में अध्ययन किया गया। माप इस प्रकार थे :

शरीर की पूरी लम्बाई	—	94 से० मी०
शरीर का व्यास	—	2 से० मी०
सिर की लम्बाई	—	3. 17 से० मी०
सिर की चौड़ाई	—	2 से० मी०

सुरेश कुमार मिश्रा
मानक लाल कोष्टा

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग,
मध्य क्षेत्रीय केन्द्र, जबलपुर (मध्य प्रदेश)।

संदर्भ

डिटमार्स, रेमंड एल· 1957· रेप्टाइल्स आफ दि वर्ल्ड ; न्यूयार्क से प्रकाशित।
बैलर्स, एन्गुस डी· 1970· रेप्टाइल्स ; लन्दन से प्रकाशित।

—००—

परिशिष्ट

भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग के दो नये क्षेत्रीय केन्द्र खोले गए हैं :—

(1). सागर-संगम गवेषण केन्द्र (एस्चुएराइन रिसर्च स्टेशन),
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,
हिल पटना,
बरहमपुर (जिला गंजाम) - 760005 (उड़ीसा) ।
तार का पता—जूलसर, बरहमपुर

(2). पश्चिमी घाट क्षेत्रीय केन्द्र
(वेस्टर्न घाट्स रीजनल स्टेशन)
भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग,
2/355—एरान्हीपालम,
पूर्व नडक्कर,
कोजीकोड—673 006 (केरल) ।
टेलीफोन : 63148